कैदी की पत्नी

लेखक

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

नयाटोला :: पटना

मूल्य २)

मुद्रक
श्रीमणिशंकर लाल
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना

क़ैदी की पत्नी

अ

हड़हड़ करती गाड़ी अ० स्टेशन पर आ लगी।

कुलियों की दौड़धूप, लोगों के रेल-पेल, फेरी वालों के शोरगुल के बीच ड्योढ़े दर्जे के डब्बे से एक नौजवान गांधी-टोपी पहने उतरा और उसके बाद एक लड़का और एक बच्चा और अन्त में गोद में बच्ची लिये एक स्त्री उतरी। स्त्री खादी की सुफेद साड़ी पहने थी, जिसकी किनारी गहरे नीले रंग की; और बदन में खादी की ही हलके रंग की छींट का बौडिश। पैरों में चप्पल। गोरे चेहरे पर बाल की जो कई लटें बिखर पड़ी थीं, उनमें कुछ धूप-छाँह के रंग। कुछ ऐसी रेखायें भवों के ऊपर, जो मानसिक चिन्ता का निश्चित संकेत करतीं। गोद में जो बच्ची है, वह कोलाहल से त्रस्त माँ का मुँह देख रही। बच्ची का एक हाथ माँ की छाती पर, एक ठुड्डी पर। बच्चा, जो पाँच-छ: वर्ष का होगा, भीड़भाड़ देख, नौजवान के पास से दौड़कर स्त्री के पास चला आया और उसकी अंगुली पकड़ कर उसके पैरों से चिपक-सा रहा। लड़के की उम्र ग्यारह-बारह वर्ष से ज्यादा की क्या होगी, किन्तु, वह काफी हुशियार और दुनियादार मालूम होता था। कभी वह सामान गिनता और कुलियों पर हुकूमत करता, तो कभी

'काकाजी' टिकट निकाल कर रिटर्न की अधकटी रख लीजिये—का तकाजा नौजवान से करता और बच्चे के नजदीक पहुँचकर, 'बबुआ, माँ की अंगुली पकड़े रहना'—का आदेश करता। स्त्री उसके मुँह की ओर देखकर गर्व अनुभव करती। नौजवान का चेहरा बताता, उसने जिन्दगी देहातों में गुजारी है, लेकिन वह शहर के तौरतरीके से भी अपरिचित नहीं है।

"कैसा शहर है यह, न एक फिटन, न एक घोड़ागाड़ी—टमटम पर कहीं भलेमानस जाते हैं।"—नौजवान झल्लाता हुआ स्टेशन के बाहर खड़ा है और दोनों कुली "न हो, तो टैक्सी कर लीजिये बाबू"—कहकर अपने भारी बोझ की परेशानी और जल्दबाजी की सूचना दे रहे हैं। उसी समय, छोटा बच्चा, स्त्री की अंगुली छोड़, नौजवान के निकट पहुँचा और बोला—"काका, बाबूजी आज मिलेंगे न ?"

"बाबूजी की तुम्हें बड़ी फिक्र—अगर बाबूजी को भी तुम्हारी ऐसी फिक्र होती तब न ?"—स्त्री ने बच्चे की ओर मुखातिब होकर कहा। बच्चा फिर स्त्री की अंगुली से आ रहा और बोला—"क्या बाबूजी नहीं मिलेंगे, भैया ?" उसकी आँखों में करुणा थी!

"मिलेंगे, मिलेंगे—बाबूजी हमसे जरूर मिलेंगे बबुआ", कहकर बड़े लड़के ने उसे गोद में उठा लिया!

कई मुहों से बाबूजी-बाबूजी की आवाज़ सुन गोद की बच्ची किलक पड़ी—"बाबूजी !"

"हाँ, कसर तुम्हारी ही थी"—कह कर स्त्री उत्कंठित आँखों से बच्ची के मुँह की ओर देखने लगी। उसकी आँखों में गंगा-जमना उमड़ आई। नौजवान ने कुलियों से कहा, सामान टैक्सी पर रखो और खुद स्त्री के निकट जाकर बोला—"स्टेशन पर यों नहीं किया जाता, भौजी ! यह भैया की शान के खिलाफ है कि लोग आपके आँसू देखें !"

स्त्री के मुँह से शब्द नहीं निकले। कुली जिस ओर सामान लिये जा रहे थे, वह चुपके, धीरे, उस ओर बढ़ी। नौजवान ने आगे बढ़कर टैक्सी का दरवाजा खोल दिया। सब बैठे; भों-भों की आवाज़ देकर टैक्सी बढ़ी—कितने अरमानों को ढोती !

× × ×

दूसरा दिन। वही पूरा झुंड—वही स्त्री, वही नौजवान, वही लड़का, वही बच्चा, वही बच्ची ! किन्तु, किसी के मुँह से कोई शब्द नहीं। सबके चेहरे उतरे। कुलियों ने ड्योढ़े दर्जे में सामान रखे। लड़के ने मन-ही-मन उनकी गिनती की। नौजवान ने चुपचाप कुलियों के हाथ में पैसे रख दिये। छोटा बच्चा भी चुप। मानों इन्हें शब्दों से घृणा हो गई हो, या ये शब्द से डरते हों। किन्तु, यह छोटी बच्ची। यह क्या जाने डर क्या चीज ? घृणा का इसे अहसास कहाँ ? ज्यों ही गाड़ी चली, सीटी की

चीख़ कमी, स्टेशन का होहल्ला दूर हुआ, वह स्त्री की ठुड्डी पकड़ कर बोल उठी—"बाबूजी!"

कल से ही इतनी बार वह अपने दो भाइयों के मुँह से—'बाबूजी, बाबूजी' सुन चुकी थी कि उसकी जिह्वा पर यह शब्द चढ़ चुका था। वह उसे दुहरा-मात्र रही थी। उसे क्या मालूम, उसका यह शब्द उसकी माँ के लिए क्या काम कर रहा था? नौजवान दुखी था, भैया से भेंट नहीं हो सकी—किन्तु, वह जानता था, उसके भैया शान के आदमी हैं; कैद हुए तो क्या? राजबंदी की प्रतिष्ठा के लिए वह सब कुछ कर सकते हैं। यह भी कोई बात है कि पत्नी से मुलाकात होते वक्त भी बगल में सी० आई० डी० बैठे! ऐसा नियम बनानेवाले पर तुफ़, और धिक्कार है उन्हें जो ऐसा नियम मानें। भैया कैसे मानते भला इसे? भेंट न हुई, न हो। बड़े लड़के का चेहरा भी उतरा था, लेकिन अपने तेजस्वी पिता के स्वभाव से वह भी अपरिचित न था—'टूट तो सकते हैं हम, लेकिन लचक सकते नहीं" का नमूना! छोटा बच्चा भी ग़मगीन था, सिर्फ़ अपने ग़म से नहीं। सबकी ग़मगीनी की परिछाईं उसके भावना-प्रवण हृदय पर पड़ी थी। किन्तु, वह स्त्री!

उफ़, कितने अरमान लेकर आई थी! कितने दिन हो गये, आज उन्हें देखूँगी, उनसे दो-दो बातें करूँगी। उन्हें उलहना क्या दूँगी, बिना मुँह खोले ही वह सब बातें जान जायँगे। ये बच्चे उन्हें देखेंगे, खुश होंगे! वे भी क्या बच्चों को देखकर कम

खुश होंगे ? बच्चों से उनको कितना स्नेह है ! किन्तु, हाय, भेंट नहीं हो सकी ! क्यों न हो सकी, इसके फेर में पड़ने की उसे सुध कहाँ थी ? उफ़, ये बच्चे कैसे उदास लौट रहे हैं ? अपना दुख वह भूल भी जाती, पी भी जाती, इसकी वह आदी हो चली थी; लेकिन, इन बच्चों के मुँह देख-देखकर उसकी छाती फटी जा रही है ! और, इतने ही में. बच्ची का यह 'बाबूजी !'—उससे सामने देखा नहीं गया, जहाँ सामने के बेंच पर कई सभ्य सहयात्री बैठे थे। वह मुँह मोड़ कर खिड़की से बाहर देखने लगी ! देखने लगी ? उसकी आँखों से अजस्र अश्रुधारा चली जा रही है और इन आँसुओं के बीच उसकी पूरी जिन्दगी आज तस्वीरें बन-बनकर सिनेमा की चित्रावली की तरह एक-एक कर आ-जा रही है !

५

कभी इस गोद की बच्ची की तरह वह भी बच्ची रही होगी, लेकिन इन आँसुओं के हजूम में उसे अपनी वह सूरत याद नहीं आ रही। हाँ, वह आज स्पष्ट देख रही है, वह एक छोटी-सी लड़की के रूप में अपने नैहर के आंगन में घूम रही है। उसकी नैहर; वह छोटा-सा गाँव, जिसे दो ओर से एक पतली नदी गाढ़ालिंगन-सी करती, कलकल-छलछल स्वर में बही जा रही और दो ओर आम की सघन अमराइयाँ और बाँस की झुरमुटें जिसे घेरे खड़ीं। कभी इस नदी में वह नहाती, चुभकती, फुरेरियाँ लेती; कभी इन अमराइयों की छाया में टिकोरे चुनती, आँख-मिचौनी खेलती। बाँसों की फुनगियाँ जब थोड़ी हवा में भी मस्ती से सिर हिलाने लगतीं, वह किन विस्मय-विमुग्ध दृष्टियों से उन्हें देखती!

और, उसका वह आंगन! मिट्टी की दीवाल के छोटे-छोटे घर, खपरैल से छाये। घर से लगे ओसारे, जिनमें लकड़ी के खम्भे लगे। इन खम्भों से लगाकर जब मथानी से दही मथा जाता, वह किस तरह दौड़कर कूँड़े के निकट पहुँचती और दादी के हाहा करते रहने पर भी न्यूनी में हाथ लगा ही देती! ओसारों के नीचे वह फैला हुआ आंगन—जो गोबर से लगातार

लीपे जाने के कारण गर्द-गुबार से रहित, चिकना, दुर-दुर। इस आँगन में वह कितने खेल रचाती? उससे बड़ी एक बहन थी, उससे छोटा एक भाई था। भाई-बहन के बीच में अपने को करके कभी वह चिल्ला उठती—'किनारे-किनारे ताड़, बीच में सरदार!' बड़ी बहन खीझ उठती, मारने दौड़ती। वह दौड़कर दादी की गोद में जा छिपती। दादी! दादी कितना मानती उसे? उसकी गोद वह क़िला था, जिसके अन्दर पहुँचते ही वह अपने को सब प्रकार सुरक्षित समझती। वहाँ पहुँच कर वह बहन को चिढ़ाने लगती! बहन झल्ला कर चली जाती और रूठ कर एक ओर बैठ जाती। तब वह दबे पाँव बढ़ती और अचानक जाकर बहन के गले से लिपट जाती! बहन तो इसकी प्रतीक्षा में ही रहती। सब मामला तय और नया खेल आरम्भ!

गुड़िये बनाती, उन्हें रंग-बिरंगे कपड़ों से सजाती, फिर उनके ब्याह रचाती। गीत गाती, कोहबर सजाती। कभी बाहर से गर्द लाकर आँगन में घर उठाती—'नया घर उठे, पुराना घर ढहे!' यह घर मेरा, यह घर बबुआ का, यह घर बहन का। दादी, माँ, काकी सब इस बड़े दालान में ही रहेंगे। "और बाबूजी; उन्हें कहाँ रखोगी पगली?"—बहन पूछती। घर से अलग एक बैठका बन जाता। इतने में भाई के मन में न जानें क्या भाव उठता। वह लात से पूरी इमारत को चूर-चार कर देता। बहन हँस पड़ती, वह झल्लाती। फिर, गुस्सा शान्त कर पानी

लाती और धूल को सान कर गीली मिट्टी बनाती। यह गूँथा गया आटा; यह पक रही हैं पूड़ियाँ। यह पूड़ी बाबूजी के लिए, यह पूड़ी दादी के लिए, यह पूड़ी बहन के लिए, यह पूड़ी बबुआ के लिए। यों ही घर के हर आदमी के लिए पूड़ियाँ बन जातीं। लेकिन, सिर्फ पूड़ियाँ कैसे खाई जायँगी? बची धूल की खीर बनी और घर से लगी बारी से कुछ सेम की फलियाँ लाकर उसकी तरकारी भी बन गई! खा बबुआ, खा बहन! और अपना मुँह भी चल रहा है—जीभ से चुभर-चुभर आवाज़!

खाना ख़तम भी नहीं हुआ कि बाबूजी आ पहुँचे। बाबूजी को देखते ही घर में भागी। वह बाबूजी से बहुत डरती—क्यों डरती? और बाबूजी उसे बहन और भाई से भी ज्यादा मानते हैं, उस उम्र में भी वह जानती थी। वह उनसे भागती, वह उसे नजदीक लाने की तरकीबें करते। कभी खिलौने लाते, कभी मिठाइयाँ लाते। भाई और बहन के हिस्से तो दादी के हाथ भी मिल जाते, लेकिन, अपना हिस्सा पाने के लिए उसे उनके निकट पहुँचना ही पड़ता। ये खिलौने—कितने सुन्दर हैं! क्या वह उनसे वंचित रहे? उनका बाल-हृदय अकुला उठता। वह सहमती, डरती उस ओर धीरे-धीरे बढ़ती। धीरे-धीरे बढ़, नजदीक जा, एक ही झपट्टे में वह खिलौने लेकर भागना चाहती कि बाबूजी की विशाल बाहें उसे लपेट लेतीं। "अरी, तू डरती है क्यों मुझसे?"

वह उसे उठा लेते और ओसारे के छप्पर से भी ऊँचा करके कहते—"डरती है, तो ले, मैं पटक देता हूँ।" वह उस ऊँचाई से नीचे की ओर देखते ही भयभीत होकर दादी-दादी कह चिल्लाने लगती। दादी दौड़कर आती, बेटे के हाथ से पोती को छीन लेती; फिर चूमती, दुलराती, हलराती!

दादी कितना प्यार करतीं उसे? जब से उसे होश हुआ, वह दादी की ही गोद में सोई। पीछे उसे मालूम हुआ, इन तीन भाई बहनों का पहले ही बँटवारा हो चुका था। बहन काकी के हिस्से पड़ी थी, बबुआ माँ के हिस्से और वह दादी के हिस्से। लोग कहते, रंग को छोड़कर सूरत-शक्ल, चाल-ढाल उसका सब-कुछ दादी पर ही पड़ा था। क्या दादी उसके बहाने अपने को प्यार करती? अपने को, नहीं, अपने बचपन को!

धीरे-धीरे वह बढी। उसका बचपन अब उस छोटे-से आँगन में समाता नहीं था। लेकिन, पर्दानशीन दादी का कंधा तो उसे आँगन से बाहर ले नहीं जा सकता। लाचार उसे बाबूजी का प्रेमाग्रह क़बूल करना पड़ा। जिस दिन उनकी अंगुली पकड़ कर वह आँगन से, बैठके से, गाँव से बाहर निकली, उस दिन उसके नन्हें-से दिल में कौन-कौन-सी तरंगें न उठी थीं? ये आम के बगीचे, ये हरे-भरे खेत, यह नदी का कछार, यह कछार में उपजा

सरपत का जंगल। दुनिया इतनी रंग-बिरंगी है; उसकी छोटी-सी आँखें इस शोभा-समूह को अपने में कहाँ तक स्थान दे सकें ?

कुछ दिनों के बाद 'अपने' घर की तरह, उसे यह भी ज्ञात हो गया, यह 'अपना' बगीचा है, यह 'अपनी' बँसवारी है, ये 'अपने' खेत हैं, यह 'अपना' खलिहान है। इन सबमें उसे प्रिय था अपना बगीचा। कितने आम के पेड़! उसे गिनना कहाँ आता? कुछ लीचियाँ भी, कुछ कटहल और एक अमरूद। अमरूद बारहमासी। वह जब कभी रूठती या जिद करती, बाबूजी अमरूद से ही फुसलाते थे न?

जिद—हाँ, एक चहेती बेटी की हैसियत से वह जिद भी कम नहीं करती। उसकी उस दिन की जिद! बैसाख का महीना था। लीचियों में ललाई आ गई थी। आम में कोंसे हो गये थे और सिन्दुरिया पर रंग भी चढ़ने लगा था। वह बाबूजी के साथ प्रायः दिन भर बगीचे में ही रहती। उस दिन दोपहर को वह बगीचे में ही थी। बाबूजी लीचियों पर बैठनेवाले पंछियों को उड़ाने के लिए कमठा बना रहे थे; वह नदी की गीली मिट्टी से कमठे पर चलाने के लिए गोलियाँ गढ़ रही थी। उसी समय एक पंडुक दाने चुगता-चुगता उसके निकट आया। पंडुक को उसने प्रायः देखा था, लेकिन इतने निकट से नहीं। उसका धूसर रंग, उस धूसर पर काले-काले बुंदे। सुडौल गले पर बुंदे और भी

सघन हो गये थे, जिनके बीच में एक पतली काली घेर—मानों, उसने नीलम की हँसली पहन ली हो। उसकी पतली, सुन्दर चोंच और उस चोंच से ताबड़तोड़ दाना चुगना! वह उसपर मुग्ध हो गई और गीली मिट्टी छोड़ उसे पकड़ने दौड़ी। पहले एक-दो छोटी उड़ान ले पंडुक कुछ दूर पर बैठ जाता रहा, पीछे लगातार पीछा किया जाता देख वह उड़ चला। पंडुक उड़ा और वह रोई। "क्यों, क्या हुआ, काहे रोती है?"—बाबूजी ने पूछा! उसने कहा, "मैं पंडुक लूँगी।"

"पगली, कहीं उड़न्त पंडुक पकड़ा जाता है!"—बाबूजी ने हँस कर कहा, जैसे हँसी में वह बात उड़ा देना चाहते हों। लेकिन, बेटी इतने सस्ते पिंड छोड़नेवाली थोड़े ही थी। जिद कर बैठी, पंडुक लूँगी और कितने बगीचों की छानबीन, कितनी डालों के चढ़ाव-उतार, कितने खेतों की खोज-ढूँढ के बाद उसी शाम को पंडुक के एक जोड़े बच्चे कमाची के ताजा बने पिंजड़े में उसकी आँखों के सामने टँग कर रहे! जिस काठी का कमठा बन रहा था, उसी से पिंजड़ा तैयार हुआ! पंडुक के उन बच्चों को उसने किस तरह पाला। धीरे-धीरे उनके पंख निकले, वे पूरे पंडुक के रूप में आ गये। वैसी ही चोंचें, वैसी ही गर्दनें, वे ही चितकबरे धूसर पंख, वैसी ही शानदार पूँछें। उनके सीने और पेट के हिस्से को हरे रंग में रंगकर उनकी शोभा और बढ़ा दी थी उसने। वे कुछ दिनों में गुटुर-गूँ भी करने लगे। दिन भर

उनका पिंजड़ा उसकी आँखों के सामने; रात में पिंजड़े को सामने टँगवा कर सोती।

एक दिन वह पिंजड़े को नीचे रखकर पंडुकों को दाना दे रही थी कि उसके बबुआ ने बुद्धिमानी की। पिंजड़े के दरवाजे की सींक खींच ली, दरवाजा खुल गया। वह दाना देने में इतनी मस्त थी कि उसका ध्यान भी उस ओर नहीं गया। ध्यान गया तब, जब एक पंडुक उस दरवाजे से सन्न-से निकला और वह हा-हा करती रही कि वह आसमान में नौ दो-ग्यारह हो गया। बदहवास-सी वह दौड़कर आंगन में आई और जिस ओर वह उड़ा था, देखने लगी कि फिर सर-से दूसरा पंडुक भी उड़ा और उसके पंख भी आसमान में फर्-फर् करने लगे! यों दोनों पंडुकों को एक बार ही खोकर वह कितनी दुखित, व्यथित, क्षुभित और चिन्तित हुई थी। बबुआ को तो वह उठाकर पटकने ही जा रही थी कि दादी ने उसे पकड़ लिया। हाँ, गुस्से में उसने पिंजड़े को चूर-चूर कर दिया और दिन भर रोती रही!

उसकी पीड़ा तुरत भर गई होती, लेकिन, दूसरे ही दिन से देखती क्या है, वे दोनो पंछी एक साथ शान से मैदान में दाने चुग रहे हैं। उनके सीने का हल्का हरा रंग उनकी हुलिया खोल देता था। वे ही तो हैं! क्या मुझे चिढ़ाने आये हैं वे यहाँ? वह गुस्से में काँपती। बाबूजी समझाते। पीछे उसे पता लगा, ये पंछी अजीब होते हैं। एक मादा, एक नर—साथ ही जनमते,

एक साथ जिन्दगी बिताते और एक के वियोग में दूसरा प्राण तक……

× × ×

प्राण तक !—वह एक बार सिहर पड़ी ! उसी समय उसने अपनी ठुड्डी पर कुछ गरम चीज का अनुभव किया। यह उसकी बच्ची का हाथ था। बच्ची को गौर से देखा, फिर किंचित् मुड़ कर अपने दोनों बच्चों को देखा। एक गरम सांस के साथ, उसने खिड़की की ओर मुँह मोड़ लिया।

उसकी आँखों से झर-झर पानी झरे जा रहे हैं। गाड़ी हड़-हड़ कर बढ़ी जा रही है। सामने हरे-भरे खेत वसंत की मादकता में शराबोर हैं। लेकिन, वह उन्हें क्या देख पाती है ? आँसू की बाढ़ थमी नहीं कि जिन्दगी की दूसरी तस्वीर उसके सामने आ खड़ी हुई !

२

और, उन्हीं बाबूजी ने उसके 'ना' कहने पर उस दिन उसे डाँट कर कहा—"जा, घर जा। देखती नहीं, कोई मेहमान आ रहे हैं इधर!"

वह देखती क्यों नहीं थी? सिर पर पगड़ी दिये, देह में मिरजई पहने, हाथ में बाँस की लाल मूठदार छड़ी लिये वह एक अपरिचित आदमी आ रहा था। लेकिन उसकी समझ में यह बात उस दिन नहीं आई कि वह खदेड़ी क्यों जा रही है? अगर उसे वह सज्जन देख लेंगे, तो क्या होगा? उनकी लाल छड़ी देखकर तो उसके मन में उत्कंठा जगी थी—यह छड़ी लूँ, उसे घोड़ा बनाऊँ, सवारी करूँ, दौड़ूँ। उसकी चाँदी से मढ़ी टेढ़ी मूँठ तो ठीक घोड़े के सिर की तरह थी। उफ, कैसा अच्छा घोड़ा बनता उसका, मन-ही-मन ऐसा सोचती, पछताती, बाबूजी का बिगड़ैल रुख देखकर चुपचाप घर की ओर रवाना हुई और गुस्से में यहाँ तक ठान लिया कि अब बाबूजी के कहने पर भी बगीचा नहीं आवेगी।

सोचती-बिसूरती घर पहुँची और दादी की गोद में जाकर बिलख-बिलख रोने लगी। "क्या बाबूजी ने मारा है?"

दादी चकित होकर पूछने लगी। वह बोलती क्या, रोती गई। दादी सान्त्वना देने लगी। लेकिन जैसे-जैसे सांत्वना देती, वैसे-ही-वैसे हिचकियाँ बढ़तीं। थोड़ी देर के बाद बाबूजी भी पहुँचे—उस आगत व्यक्ति को विदा कर। उन्होंने ठीक ही समझ लिया था, उनकी मानिनी बेटी ने उनकी बात मान तो ली है, किन्तु उसके दिल पर जो चोट लगी है, उसे वह तुरत भूल नहीं सकेगी। उन्हें देखते ही दादी ने फटकार बताई—"मेरी पोती को डाँटनेवाले होते हो तुम कौन? जाओ; मेरे आँगन से निकल जाओ! और, देख, मेरी दुलारी पोती, अब उसके साथ बगीचा मत जाना। नहीं जायगी न?" बार-बार पूछे जाने पर उसने ऊँ-ऊँ करती 'नहीं जाती' यह कह तो दिया, लेकिन मुँह से यह शब्द निकाल कर वह कितना चौंकी? क्या सचमुच अब बाबूजी के साथ वह बगीचा नहीं जायगी?

इस डाँट के लिए बाबूजी को दंड भी देना पड़ा—कुछ मिठाइयाँ, कुछ खिलौने और एक जोड़ी बढ़िया चूड़ियाँ। लेकिन, दादी ने उसे समझाया, उसने भी स्थिति समझी, कि वह अब निरी बच्ची नहीं रह गई है। अब वह बड़ी होती जा रही है। अब उसे अपरिचितों से थोड़ी लाज करनी चाहिये। उनके सामने कभी नहीं जाना चाहिये। अगर अचानक वे सामने आ जावें, तो मुँह पर यों घूँघट करके झटपट भाग आना चाहिये। 'यों घूँघट!'—दादी ने एक नई बचकानी साड़ी पहना कर उसे घूँघट करना सिख-

लाया। सिखलाया—गर्दन से होकर जो आंचल आज तक अमू-भन छाती पर पड़ा होता, उसे किस तरह सिर पर रखकर, एक तिकोन-सा बनाता हुआ, चेहरे पर ले आना चाहिये। सिखला कर दादी ने कहा—"अच्छा, दुलारी, ज़रा घूँघट करके दिखला तो दे!" दुलारी घूँघट कहाँ तक काढ़ती, गर्दन से आँचल हटा उसे कमर में लपेटती, भागी। दादी, मैया, काकी—सभी ठहाका मार कर हँसने लगीं!

लेकिन, उम्र बीतने के साथ-साथ ये चीजें भी उसे सीखनी ही पड़ीं। बाबूजी के साथ छाया-सी जो वह लगी फिरती, वह धीरे-धीरे कम हो गया। अब उसे नई-नई कारीगरी सिखलाई जाने लगी। कारीगरी के चक्कर में उसे ज्यादातर आँगन में ही रहना पड़ता। जिस सींक के सन्दूकचे में पहले सिर्फ गुड़िये और उनके साज़-शृङ्गार रहते; उसमें सूई, तागा, तरह-तरह के रंगीन कपड़े, ऊन के लच्छे, बुनने की कमाचियाँ और शानदार कैंची आदि चीजें ठसाठस भरी रहतीं। पहले उससे सूई में तागा देना मुश्किल होता। कई बार उसने कपड़ा सीने के बदले अपनी अंगुली में सुई चुभो ली। कैंची से तो बहुत दिनों तक डरती रही; जब वह कैंची चलाती, उसे लगता, यह अपना मुँह खोलकर कपड़े के साथ उसे भी निगल जायगी। लेकिन, धीरे-धीरे कैंची उसकी मर्जी पर कमी-बेश मुँह खोलती, बन्द करती और सुई जादूगरनी-सी छोटे-छोटे वस्त्र-खंडों

से सुन्दर पहनावा तैयार कर देती। साधारण बखिये से लेकर वह कटाव का काम करने लगी, फिर बेलबूटे काढ़ने लगी। बुनने में तो उसने सबसे जल्द व्युत्पन्नता हासिल की। थोड़े ही अभ्यास के बाद कसाचियाँ और लच्छे लेते ही उसकी अंगुलियाँ नट की तरह कलाबाजियाँ दिखाने लगतीं। उसकी कारीगरी पर प्रशंसा के पुल बनने लगे। वह उस पुल पर झूमती, हिलकोरे लेती!

यहीं नहीं, रसोई बनाने की कला का प्रयोगात्मक ज्ञान भी उसे दिया जाने लगा। शुरू-शुरू इसमें भी उसे दिक्कतों का सामना करना पड़ा। कई बार जिसकी पानी की बूँदें सूख नहीं पाई थीं, वैसी कड़ाह में तेल डालकर उसकी भयानक चट्-चट् से वह भयभीत हो चुकी थी। कई बार घी इतना जल उठा था कि उसमें तरकारी डालते ही आग भभक उठी, वह घबरा कर भागी! कई बार कड़ाह या बटुलोही उतारते समय वह हाथ में छाले ले चुकी थी। ठीक परिमाण में नमक डालना तो उसे खूब परेशान करता। कभी इतना अधिक नमक, कि खाया नहीं जाय; कभी इतना कम कि पीछे से मिलाना पड़े। वह प्रायः नमक देना ही भूल जाती। लेकिन, इन विघ्न-बाधाओं से भी वह पार पा गई और उस श्रावणीपूजा के दिन जब उसी की बनाई पूड़ियाँ, खीर, तरकारियाँ और बजके बाबूजी को खिलाये गये, तो उन्होंने तारीफ की ही झड़ी नहीं लगा दी, आगामी भैयादूज को उसके लिए बढ़िया साड़ी, खुद शहर जाकर खरीद लाये!

यों, धीरे-धीरे उसका नाता आँगन से जुट रहा था और बाहर की दुनिया से टूटता जा रहा था। लेकिन, न जाने क्या

बात थी, जब आम में बौर आते, उसकी तबीयत बावली-सी बगीचे में जा रमती और मिठुआ, मालदह के बाद भी जब तक एक भी राढ़ी का फल लगा रहता, बगीचे में ही चक्कर देती रहती। बाबूजी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, गाँव-घर में ही नहीं, जवार-जवार में भी उनकी इज्जत-प्रतिष्ठा थी, ऐसे घरानों की सयानी बेटियाँ बगीचे रखाया नहीं करतीं, किन्तु अपनी इस बेटी का मन तोड़ना उनके लिए मुश्किल था। जहाँ तक हो सके, उसे निर्बन्ध विचरने देने में वह कसूर नहीं जाते। वह बहुत दिनों तक बगीचे में आती-जाती रही। हाँ, वह भी अपनी स्थिति समझ, इस तरह आती-जाती कि उनकी प्रतिष्ठा में जरा भी बट्टा नहीं लगे। चुपके-चुपके बगीचे जाती, वहाँ पेड़ों की आड़ में बैठती, बैठे-बैठे एक-एक बौर, एक-एक टिकोरे, एक-एक फल को देखती। कितने सुन्दर लगते थे वे। जब वह घर लौटती, उसका आँचल फलों से भरा होता !

फलों से भरा आँचल, उमंगों से भरा हृदय। वह ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, उसके हृदय में उमंगों की घटा भी घनघोर होती चली। हृदय में उमंग, नसों में तरंग। उसे कभी-कभी ऐसा लगता, उसकी बाहों के नीचे, काँख के निकट से, पंख-से फूट रहे हैं। उसकी इच्छा होती, वह उड़े। वह कभी-कभी पंख फड़फड़ाने के धोखे में हाथों को ही हवा में तोलने लगती ! अरे, उसे यह क्या होता जा रहा है ?

क्या होता जा रहा है, यह भी उससे छिपा नहीं रहा।

सावन का महीना था। बगीचे के बचे-खुचे आम तोड़कर घरों में रख दिये गये थे। घनघोर वर्षा हो रही थी। खेतों में धान की रोपनी की धूम थी। बाबूजी खाने-भर को घर आते, दिन-दिन भर खेतों पर ही रहते। घर-घर में आर्द्रा मनाई जा रही थी। पूड़ियाँ पकतीं—कचरकूट होती। कभी इस घर, कभी उस घर। लगातार वर्षा के कारण आँगन में निकलना तक मुश्किल था। घर-घर में झूले पड़ गये थे। दिन-रात हमजोलियाँ झूले पर धूम मचाये रहतीं। पेंग लगातीं, गाने होते। हाहा-हीही से घर का छप्पर तक उड़ने का अंदेशा होता।

वह भी कई दिनों से झूल रही थी। कुछ हमजोलियाँ; कुछ बहनें, कुछ भावजें। इस सावन ने तो काकी-मैया को भी अपने रंग में रंग डाला था। मैया घर के कामों में फँसी रहती, अतः वह कम झूल पातीं; काकी तो किशोरियों के कान काट रही थीं। उम्र, नाता और दूसरी पाबन्दियों को भूल सब हिलमिल कर झूले जा रहे थे। एक दिन ऐसा संयोग कि झूले पर एक ओर वह थी, दूसरी ओर काकी। थोड़ी देर में सरगर्मी आई। काकी कहती—"बबुई, जोर लगाओ, क्या धीरे-धीरे पेंग दे रही हो!" लेकिन, बबुई की तो अजीब हालत थी। वह ज्योंही पेंग देती, झूले के दोनों रस्से उसके सीने से लग जाते और उनके लगते ही एक अजीब कनकनी, झिनझिनी-सी घर जाती। अंग-अंग सिहर उठते, झनझना पड़ते, पेंगें शिथिल पड़ जातीं। काकी ने एक

बार, दो बार टोका । वह शर्मिन्दा-सी होकर, बहाना करके उस घर से निकल, दूसरे घर में आई !

इधर, दादी का आग्रह था, हमेशा चोली पहने रहो। लाचार वह समूचे शरीर को कसे रहती । यह मेरे सीने में क्या हुआ है ? वह एकान्त में जाकर देखना चाहती थी। उस घर में घुसी, चोली निकाली। चोली निकालना और काकी का ठहाका, जो चुपचाप उसके पीछे आकर देख रही थीं ! वह चौंकी, काकी ठहाके के बीच ही बोल उठीं—"यह क्या हो रहा है बबुई ?" शरम के मारे उससे सिर नीचा नहीं किया गया, उसने झटपट चोली पहन ली—"काकी, आपको मेरी कसम, किसी से कहियेगा नहीं...!"

× × ×

उसे ऐसा लगा, वह नैहर के उस घर में खड़ी है—चोली उतारे; और काकी छिपकर झाँक रही और ठहाका दे रही है। वह आज भी चौंकी, पीछे मुड़कर देखा। सामने के बेंच पर बैठे यात्री कुछ बातें करते और ठहाके लगा रहे थे । उसे तुरन्त स्थिति का भान हुआ, इत्मीनान हुआ। किन्तु, उसी समय उसकी नजर सामने के बेंच पर बैठे अपने बड़े लड़के पर गया। आह, इस ठहाके के बीच भी, उसके हँसमुख लड़के का मुँह कैसा लटक रहा है !

फिर आँसुओं का प्रवाह । फिर खिड़की की तरफ मुँह। फिर वे ही तस्वीरें !

३

वह जवान हो रही है—इस कल्पना ने उसे कितनी चकित विस्मित, मुग्ध-मग्न कर दिया था।

उसकी नजर, जो पहले बाह्यजगत पर दौड़ी फिरती थी, अब अपने पर केन्द्रित होती गई। वह अब आईना लेकर बहुत-बहुत देर तक अपना चेहरा देखा करती। मेरी ये आँखें—कोये कितने लम्बे, उजले; बीच की पुतलियाँ—कैसी गोल, कितनी काली। बड़ी-बड़ी आँखों को ढँकने के लिए मानों बरौनियाँ भी लम्बी-लम्बी चाहिये। और ये भवें—कितनी पतली, काजल की पतली रेख-सी। चौड़ा ललाट। उभड़े गाल—जिनपर हँसने पर गड्ढे बन जाते। पतले लाल अधर, गोल चिबुक। गोरा-भभूका रंग काले बालों की पृष्ठभूमि में दमक रहा। हाँ, हाँ, वह काफी खूबसूरत है!

जब वह बाहर निकलती, काफी चौकसी से। आँचल कितना बड़ा हो और कहाँ तक लटका रहे; इस रंग की साड़ी पर यह चोली अच्छी लगती है या नहीं; वह पैर कैसे उठाती है, चलते समय उसके हाथ कैसे हिलते हैं;—उफ, वह खुदी में इतनी गर्क़ हो गई थी कि चलते समय अपनी छाया तक देखती! मेरी छाया—इसमें मैं कैसी लगती हूँ!

विचित्रता यह रही कि एक ओर जहाँ वह यों खुदी में, अपने आप में गर्क रहती, वहाँ बाहर की चीजें उसे प्रभावित भी बहुत करतीं। जो दृश्य या शब्द पहले उसके लिए सिर्फ दृश्य या शब्द-मात्र थे, अब उनमें वह भिन्नता ही नहीं, अलग-अलग पैगाम भी सुनती और वे उसके मन में तरह-तरह की अजीबोगरीब भावनायें सृष्टि करते : कोयल की बोली पहले भी मीठी थी और कौवे की कर्कश। किन्तु अब जब भोर-भोर वह कोयल की बोली सुनती, उसे नींद नहीं आती, मालूम होता—कानों के रास्ते एक अजीब सनसनी उसके अन्दर घुस कर नस-नस में एक नाच-सी खेल रही है। श्यामल घटायें पहले सिर्फ वर्षा की सूचना देती थीं, अब वे घटायें आसमान से उतर कर उसके हृदयकाश में छा जातीं और रस की अजस्र बूँदें बरसा देतीं। अब बिजली सिर्फ आसमान में ही चमक कर एक क्षण में गुम नहीं हो जाती, थोड़ी देर के लिए उसका समूचा शरीर जैसे बिजली से छू जाता! वसंत पहले भी फूलों का जामा पहने आता था, शरद पहले भी चाँदनी में मुस्काता था। लेकिन वसंत के वे फूल अब सिर्फ नेत्ररंजक रंगों का झलमल मेला-मात्र न थे और न शरद की चाँदनी शीतल ज्योत्स्ना की झक-झक आरसी-मात्र। अब वे आँखों के देखने के उपादान-मात्र नहीं रहकर, हृदय की अनुभूतियों की आँखमिचौनी के साधन बन चुके थे!

छोटी-सी चीज, यह आम का बौर। बचपन से ही वह बगीचे की संगिनी रही है। न जाने कितने मधुमास में वह आम में मंजरी आना देखती आई है। न सिर्फ हर फुनगी पर उनका निकलना, लटकना उसने देखा है, डाल छेद-छेदकर भी मंजरी को निकलते उसने निहारा है। जब मंजरी को देखती, खुश होती! खूब फल लगेंगे इस साल—खूब खाऊँगी, खिलाऊँगी। जब कभी लगातार पुरवा हवा के कारण बौर में 'मधुआ' लग जाता; वे नुकशान हो जाते, या फागुन की वर्षा में बिजली का एक बार चमक उठना भी उन्हें झुलसा देता, निष्फल बना देता, वह उदास हो जाती—आह! मंजरियाँ बरबाद गईं, इस साल अब आम नहीं मिलेंगे। लेकिन, इन्हीं मंजरियों को उस साल देखकर वह किस तरह चौंक उठी! इन मंजरियों में उसने आम की सार्थकता ही नहीं, अपनी तदात्मता भी पाई और जब उनकी झुरमुट में बैठकर कोयल कूकी और उनके ऊपर मँडरा कर भौंरों ने गुनगुनाना शुरू किया—उसने बगीचा जाना छोड़ दिया!

उसे एक और विचित्र अनुभव हुआ! अब उसे ऐसा लगता, जब कहीं वह बाहर-भीतर जाती-आती है, लोग उसकी ओर घूर-घूर कर ताकते हैं। दीदी, दादी, काकी, सब एक विचित्र नजर से उसकी ओर देखते हैं। उसकी सखी-सहेलियों की नजरें भी उसकी ओर कुछ और ही रुख अख्तियार कर बैठी हैं। खैर, ये तो स्त्रियाँ ठहरीं, वे घूर-घूर कर देखें, तो सिवा थोड़ी खिजलाहट अनुभव करने के, वह उसे सानन्द बर्दाश्त

कर सकती थी। लेकिन, मर्दों की नज़रों में एक ही बार दो विरोधी रुख देखकर वह घबरा जाती! एक ओर थे बाबूजी और कुछ गुरुजन—जिन्होंने उसे गोद में खिलाया था, जो उसे देखते ही पकड़ लेते, तरह-तरह से गुदगुदाते, हँसाते थे। अरे, जिन्होंने कितनी ही बार उसे नहलाया है, कपड़े पहनाये हैं; वही बाबूजी और वे ही गुरुजन अब उसे देखते ही सिर नीचा कर लेते!—सिर नीचा कर लेते, उसकी ओर आँख उठाकर देखते भी नहीं! क्यों? किन्तु, यह क्यों उसे इतना चिन्तित न करता, जितना कुछ दूसरे लोगों का उसकी ओर घूर-घूर कर देखना!—खासकर अपरिचितों से तो वह तंग थी। उस साल वह मेले के दिन शिवजी पर जल चढ़ाने गई थी। उफ़, लोगों ने, खासकर नौजवानों ने, उसकी ओर कैसे देखना शुरू किया, जैसे वे उसे जिन्दा निगल जाने के दाँव खोज रहे हों!

इसी चित्र-विचित्र अनुभवों और अनुभूतियों के बीच एक दिन उसने दादी और बाबूजी को एक विचित्र चर्चा करते सुना। दादी कहती थी—दुलारी की शादी कर दो, इस साल लगन भी अच्छी है, फसल भी अच्छी आई है, जवान बेटी जितनी जल्द घर से जाय, उतना ही अच्छा। इधर बाबूजी कहते—तीसरे ही साल तो बड़ी लड़की की शादी की, कुछ हाथ-हथफेर अभी चुकाने को रह ही गये हैं, एक साल और ठहरो, अभी तो बच्ची

है, क्या हड़बड़ी लगी है ? लेकिन, दादी के निकट बाबूजी की क्या बिसात। एक दिन उसने देखा, पुरोहितजी सिर पर पग्गड़ दिये, त्रिपुण्ड्र किये, नंगे बदन पर मोटी जनेऊ लगाये, कंधे पर चादर रखे, जिसकी खूंट में पत्रा बँधा था—उसके आँगन में आ धमके और दादी के कानों में कुछ फुस-फुस बातें कर रवाना हो गये। लोगों ने कहा, वर ढूँढ़ने गये हैं !

वर ढूँढ़ने ! वर किसे कहते हैं, क्या वह नहीं जानती ? जानती क्यों नहीं, बचपन से वह गुड़िये का ब्याह रचाती आई है। उसने कितने वर देखे हैं, कितने ब्याह देखे हैं। तीसरे साल अपने ही आँगन में बहन की भाँवरें पड़ती देख चुकी है। ब्याह उसे कितना मजेदार लगता रहा है ! नई साड़ियाँ पहनने को मिले, नये-नये गहने अंगों को जगमगाये। सब लोग गाने गायें। हँसी के फव्वारे छूटें। भोज हो, कचरकूट मचे। अहा, ब्याह कितना अच्छा उत्सव !

लेकिन, उस दिन जब उसने सुना, उसके लिए वर ढूँढ़ने पुरोहितजी जा रहे हैं, तो न जाने क्यों, वह अजीब उलझन में पड़ गई, विपण्ण बन गई। वर ढूँढ़ने ! वर ! वर क्या ? एक ऐसा पुरुष जिसके साथ उसे जिन्दगी गुजार देना है।

पुरुष ! पुरुष की कल्पना से उस दिन सचमुच, वह काँप उठी। अब तक वह स्त्रियों के बीच ही रही। बचपन के कुछ दिन उसने बाबूजी के साथ जरूर गुजारे हैं। लेकिन, अब तक

की उसकी सारी रातें तो स्त्रियों—खासकर दादी—के साथ ही कटीं। उसकी जिन्दगी के अधिकांश दिन भी स्त्रियों के ही बीच कटे। लेकिन, अब एक पुरुष उसकी जिन्दगी में प्रवेश करेगा, जो सारी रात, सारे दिन उससे तलब करेगा। हाँ, सारी रात, सारे दिन। उसने यही सुन रखा है, उसने ऐसा ही देखा भी है। उफ, सारी रात, सारे दिन एक पुरुष के हाथ में दे देना; जिससे उसका आज तक कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, जिसके व्यक्तित्व से उसका कोई परिचय नहीं, उसी एक पुरुष के हाथ में अपनी सारी रातें, सारे दिन दे देना!

लेकिन, उसने देखा है, पुरुषों को पाकर उसकी सहेलियाँ बहुत प्रसन्न हुई हैं, उनमें से कुछ ने अपने उस जीवन की अंट-संट कथायें भी हँसती-हुलसाती उसे सुनाई हैं। अभी-अभी पड़ोस की वह भौजाई आकर हँसते-हँसते उसके गालों में हुदक्का देकर कह गई है,—"बबुई, अब क्या है, बस कुछ दिन और, और गुलछर्रे उड़ाइये!"

वाह रे गुलछर्रे? जान न पहचान, बड़ी बी सलाम! लेकिन, जान-पहचान करनी ही होगी, बीबी बनकर सलामी लेनी ही होगी। तो अब उसके लिए वह तैयारी क्यों न करे?

अब पुरुष में एक नये किस्म की दिलचस्पी उसमें जगी! पहले कोई नौजवान उसकी ओर घूरता, तो वह अकुला उठती, बेचैन हो जाती। उसकी इच्छा होती, कहीं दौड़कर अपने को वह छिपाती, कभी-कभी सोचती, सँड़सी हो, तो उसकी आँखें

निकाल लूँ। लेकिन, अब उसके खयाल में आता, ऐसा ही कोई नौजवान तो मुझे दिन-रात घूरा करेगा और उस सहेलीकी कथा के अनुसार गुदगुदा कर मुझे जगायगा, थपथपा कर मुझे सुलायगा! फलतः अब झल्ला उठने की जगह वह उसकी आँखों में कुछ पढ़ने की चेष्टा करती। यद्यपि यह चेष्टा बहुत क्षणिक होती, तुरत संकोच उसकी आँखें छिपा देता, तथापि उस एक क्षण में ही देखती, नौजवानों की भाव-भंगिमा में अजीब परिवर्तन आ जाता। उनकी पलकें स्थिर हो जातीं, आँखों में चमक आ जाती, होंठ कुछ हिल जाते। कभी-कभी उसने उनके ललाट पर पसीने की बूँदें भी देखीं। इस नये अनुभव ने उसमें कुतूहल पैदा किया और कुतूहल में वह रस अनुभव करने लगी!

एक दिन उसने सपना देखा—एक नौजवान के साथ वह मँड़वे पर बैठी है, उसके मुँह पर घूँघट है, लेकिन, उस घूँघट से ही उसकी ओर वह देख रही है और उसकी आँखों में वैसी ही चमक है, उसके होंठ वैसे ही हिल रहे हैं, ललाट पर वैसी ही पसीने की बूँदें······

नहीं नहीं, यह बुरी बात। वह फँसी जा रही है। यह क्या उलूल-जलूल कल्पना! अपने मन को दूसरी ओर मोड़ने के लिए उसने सिलाई-बुनाई में ज्यादा वक्त देना शुरू किया। रसोई-पानी में भी वह ज्यादा दिलचस्पी लेने लगी। दादी ने उँगली पकड़-पकड़ कर उसे रामायण और सुखसागर पढ़ना सिखाया था; उसके उपयोग का अर्थ उसे अब मालूम हुआ। उन्हें पढ़ती,

सुनती । घर से प्रायः निकलती ही नहीं । रात में सोने के पहले दादी से तब तक कहानी कहलवाती जब तक उसकी नींद नहीं आ जाती । दूसरे दिन वह फिर दादी से कहानी के लिए आग्रह करती, तो दादी कहतीं, बाज आई तुम्हें कहानी सुनाने से । मैं कहानी कहूँ और तू सो जाय ! लेकिन, बार-बार आग्रह करने पर दादी को कहानी कहनी ही पड़ती—

"एक थे राजा, उनकी सात थीं रानियाँ !"

"सात रानियाँ ?"

"हाँ, हाँ, सात रानियाँ।"

"सात रानियाँ क्यों दैया ?"

"चुप, कहानी सुनेगी, या बहस करेगी ?"

"एक थे राजा, उनकी............"

"एक.............................."

× × ×

उसकी आँखें झिपने-सी लगीं । उसे ऐसा लगा, वह उस कहानी के उड़नखटोला पर उड़ती जा रही है—जमीन से दूर, आसमान से दूर । हवा में सर-सर, झर-झर करता उड़नखटोला उड़ा जा रहा है और उसपर बैठी वह कभी जमीन की क़िस्मत

पर मुस्कुरा रही, कभी आसमान के सितारों से आँखमिचौनी कर रही। चलते-चलते, जैसे एक धक्का-सा लगा, उड़नखटोला अचानक खड़ा हो गया। आँखें खुलीं तो पाया, एक स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हो रही है। कुछ यात्रियों के उतरने और बहुत के चढ़ने से थोड़ी हलचल। फिर, वायुवेग से रेल भागी जा रही है और उसके सामने चित्र-पर-चित्र आ-जा रहे हैं।

४

कितनी जगहें ब्राह्मण और नाई गये। कुछ स्थानों में उसके बाबूजी भी गये। लेकिन अनुरूप वर नहीं मिला। जब-जब ब्राह्मण-नाई लौटते, दादी से अपना भ्रमण-वृत्तान्त सुनाते। अमुक गाँव में हम गये, घर तो ठीक था—बस गाँव के अमुक नौजवान की तरह, लेकिन वर अच्छा नहीं। कभी सुनाते, घर बहुत अच्छा, लेकिन वर—हमें तो पसंद नहीं आया, हूबहू गाँव के उस लड़के की तरह। किसी-न-किसी तरह ये वृत्तान्त उसके कानों तक पहुँचते ही। ज्यों-ज्यों दिन टलते, उसे आनन्द ही मालूम होता। भविष्य की अनिश्चितता पर वर्तमान के सुख-दुख हमेशा तरजीह पाते रहे हैं। फिर, यहाँ दुख कहाँ था, सुख-ही-सुख। न कोई जिम्मेवारी, न कोई अभाव। आनन्द फिर क्यों न हो?

लेकिन, एक विशेषता का उसने अपने में अनुभव किया। जब-जब वह सुनती, अमुक नौजवान की तरह का वर उसके लिए देखा गया है, तब-तब उस नौजवान को गहरी नजर से देखने की उसमें उत्सुकता पैदा होती। वह उसे कभी आते-जाते देखती, तो अपने को छिपाकर, दूर-दूर से, उसे भलीभाँति देखने की कोशिश करती। वर की तलाश के दौरान में कितने ही नौजवानों की तुलना उसके भावी पति से की गई

और हर की ओर उसकी वही उत्सुकता जगी। वही उत्सुकता, और उत्सुकता के फलस्वरूप निरीक्षण, पर्य्यवेक्षण और, विश्लेषण भी। इन नौजवानों की परस्पर तुलना भी वह करती। उसकी आँखें अच्छी हैं, उसकी छाती खूब चौड़ी है, वह खूब हँसमुख है—यों ही उनके एक-एक अंग की छानबीन वह करती। वह इनमें इस तरह गर्क रहती कि हमेशा पुरुष की कोई-न-कोई मूर्त्ति उसके सामने रहती। थोड़े दिनों के बाद उसने महसूस किया, पुरुषों के प्रति जो रस की अनुभूति उसके हृदय में जगी थी, वह मूर्त्तरूप धारण कर रही है। और, उस दिन उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब किसी का चेहरा, किसी का शरीर, किसी का स्वभाव, किसी का रहन-सहन लेकर उसने एक कल्पना-पुरुष की सृष्टि कर ली। यही नहीं, उसने इस कल्पना-पुरुष को अपना पति मान लिया।

एक कल्पना-पुरुष, वह उसका पति और वह स्वयं उसकी सौभाग्यशालिनी पत्नी! पत्नी; उसे पत्नी बनना होगा। पत्नी क्या? दूर क्यों जाना, यही बाबूजी के लिए जो उसकी मैया है। उसकी मैया, उफ कितनी जिम्मेवारियाँ उठा रखी हैं उन्होंने। दादी तो घर की मालकिन हैं और काकी—जब से विधवा हुई—उन्हें घर से सिवा खाने-पीने या तीर्थ-व्रत करने का, दूसरा कौन वास्ता? यथार्थतः उसकी माँ ही वह धुरी है, जिसपर उसके घर का चक्र चला करता है! क्या माँ की तरह ही उसे एक पूरी गृहस्थी का जिम्मा उठाना पड़ेगा? उफ, वह

किस तरह इतना बड़ा बोझ बर्दाश्त कर सकेगी ? लेकिन, क्या ऐसे सवाल की गुंजायश भी है ? साफ है, उसे यह बोझ उठाना ही पड़ेगा । तो क्यों नहीं वह अपने को उस योग्य बनावे ?

आज तक भी वह घर-गृहस्थी में दिलचस्पी लेती आई, तभी तो वह अपनी बड़ी बहन से भी ज्यादा इस घर की प्यारी रही; लेकिन अब तो उस ओर वह अधिकाधिक ध्यान देती। माँ का व्यवहार दादी से, काकी से, घर की दासियों से, पशुओं के चरवाहों और खेत के हलवाहों से कैसा होता है; पड़ोसियों से वह किस तरह पेश आतीं; घर के सारे काम वह किस तरह सँभालतीं, वह उनकी एक-एक कार्रवाई को गौर से देखती। गौर से देखती ही नहीं, उनके कामों में हिस्सा भी बँटाती ! माँ कहतीं, दुलारी, तू तो अब चार दिनों की मेहमान है, क्यों, इन प्रपंचों में पड़ती है ? लेकिन, दुलारी माने तो कैसे ? पड़ोसिनें कहतीं, बेटी हो तो दुलारी-सी, चलते-चलाते भी माँ का हाथ बँटाने से नहीं चूकती; वह जिस घर में जायगी, नेहाल कर देगी !

यों, वह अपने को भावी पत्नी बनाने की तैयारी में लगी रही और ब्राह्मण-नाई, पड़ोसी और बाबूजी वर की तलाश में लगे रहे, कि धीरे-धीरे लगन के दिन भी टल गये ! माघ से होते-होते असाढ़ आया, और अब फिर अगले माघ में ही तो शादी हो सकती है ! खैर, छः महीने और निश्चिन्तता के मिल गये । उसने कैसी इत्मीनान की साँस ली ?

लेकिन, जिस तरह उसकी जिन्दगी के चौदह वर्ष हँसते-खेलते बात-की-बात में बीत गये थे, उसी तरह ये छः महीने भी पलक लगते बीत गये! और, एक दिन उसने ब्राह्मण-देवता को बड़े आनन्द से यह घोषित करते सुना—बबुई के लिए एक योग्य वर मिल गया!

घर-भर के आनन्द का क्या कहना? दादी आनन्द से गद्गद हो उठीं। माँ के पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते। काकी तो फुदकने-सी लगीं। बाबूजी के चेहरे पर प्रसन्नता की स्पष्ट झलक। छोटा भाई दौड़ा-दौड़ा गया और कई आँगनों में यह संवाद कह आया। घर-घर की बड़ी-बूढ़ी आतीं और वर-घर के बारे में विस्तृत रूप से, खोद-खोद कर, पूछतीं और चलते समय उसपर आशीर्वादों की वर्षा करती हुई जातीं। उस रात में तो उसके आँगन में औरतों का विचित्र ठट्ट जमा और उनके गाने से घर-आँगन ही नहीं, समूचा गाँव गनगना उठा। मानों, उसकी शादी की सार्वजनिक घोषणा कर दी गई!

अब वह चन्द दिनों की इस घर की मेहमान है, अतः ज़िन्दगी भर में जितना भी उसे प्यार दिया जा सकता था, उसपर इन चन्द दिनों में ही उँड़ेलने की चेष्टा होती। अपने घर-भर के लोगों का ही प्यार नहीं, अड़ोस-पड़ोस का प्यार भी। आज इस घर का निमंत्रण, कल उस घर का। तरह-तरह से उसका आगत-स्वागत होता, तरह-तरह के उसे खाने खिलाये जाते, लौटते समय तरह-तरह के वस्त्राभूषण पहनाये जाते। जब कुटुम्बियों को इसकी खबर लगी, वहाँ से भी उसके लिए तरह-

तरह के सौगात आने लगे। एक अजीब तरह की विविधता और बहुरंजिता में उसके दिन-रात किस तरह कटने लगे, जिसे वह समझ नहीं पाती।

तिलक चढ़ने का दिन भी आ पहुँचा! उस दिन ब्राह्मण-देवता नाई और कितने आदमियों को लेकर, सदल-बल, उसकी भावी ससुराल को चलने की तैयारी करने लगे। तरह-तरह के बर्तन, कपड़े, सुपारी, पान, नारिकेल आँगन में सजा कर रखे गये। गाँव की स्त्रियों ने देखा, प्रशंसा की। फिर ये चीजें दरवाजे पर गईं, जहाँ गाँव के लोग जुटे थे; उन्होंने भी सराहा और तरह-तरह के मंगलोच्चार के साथ, ब्राह्मण देवता के नेतृत्व में, ये चीजें उसकी ससुराल को रवाना की गईं। उस दिन से उसे पीली साड़ी पहनाई गई, सिर के बाल खोल दिये गये, देह में रोज उबटन लगता, आँखें में काजल की रेखा दी जाती! एक दिन अपने बाबूजी द्वारा खरीद कर लाये गये उस बड़े आईने में उसने अपनी यह मुक्तकेशिनी, पीतवसनधारिणी, प्रसाधन-पूर्णा, कज्जल-रंजिता वेश-भूषा देखी। देखकर वह खुद चौंक गई! अरे, वह ऐसी है! यह जवानी, यह खूबसूरती और यह सादगी!—'इस सादगी पे कौन न मर जाय, ऐ खुदा!'

इसी वेश में उसे रोज स्नान करके शिवजी पर जल, अक्षत, फूल, बेलपत्र आदि चढ़ाना पड़ता—दादी की यही आज्ञा थी। उसे कुछ शरम भी लगती, लेकिन, वह आज्ञा टाली भी तो नहीं जा सकती थी। व्याह-यज्ञ की सफल समाप्ति के लिए शिवजी

को प्रसन्न करना जरूरी था। फिर "पारवती-समपति-प्रिय होहू" के लिए भी तो पारवती-पति की पूजा एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

घर-बाहर का धूमधाम दिन-दिन बढ़ता जाता। उसके काकी के जिम्मे था, उसके साथ जानेवाली चीजों का सँजोना। वह दिन-रात उसी में व्यस्त रहतीं। इतनी साड़ियाँ, इतनी चोलियाँ, इतने तकिये के खोल, इतने आईने, इतनी कंघियाँ—छोटी-बड़ी एक-एक चीज की फिहरिस्त बनाकर वह उसकी पूर्त्ति में लगी रहतीं। जिन चीजों की कमी होती, उसके लिए बाबूजी से तकाजे पर तकाजे करतीं। कई दिन तो इसको लेकर कहा-सुनी भी हो गई—काकी की जिद थी, अमुक चीजें इतनी तायदाद में जायँ ही, और बाबूजी ने जरा चूँ-चरा की, कि काकी उलझीं। दादी तब बीच में पड़तीं और मामला सुलझता। माँ के जिम्मे लोगों के खिलाने-पिलाने की चीजों का भार था। वह तरह-तरह के अँचार, मुरब्बे, तरकारियाँ, मिठाइयाँ आदि के जुगाड़ में लगी रहतीं। इन चीजों की तैयारी में गाँव की स्त्रियाँ उनका साथ देतीं। वे स्त्रियाँ काम करतीं और गाने गाती जातीं। आँगन में दिन-रात शोर-गुल और गाने-बजाने की धूम रहती।

दादी के सर पर तो जैसे सभी बोझ हो। वह घर-बाहर दोनों के सूत्रों की संचालिका थीं। कभी आंगन में आकर वह माँ और काकी को सलाह-मसविरे देतीं, तो कभी दरवाजे पर जाकर बाबूजी पर हुकूमत करतीं। हाँ, हुकूमत ही समझिये।

बाबूजी तो उनके खरीदे हुए गुलाम की तरह थे, उन्हीं के इशारे पर सब काम-काज करते।

दरवाजे पर की भीड़-भाड़ का तो कुछ कहना ही नहीं। राज घरों की मरम्मत में लगे हैं, लोहार जलावन चीर रहे हैं, बढ़ई पलंग आदि बना रहे हैं। उनकी कढ़नी, कुल्हाड़ी और बसूले की आवाज आने-जानेवाले लोगों की बात-चीत के शब्द से मिलजुल कर अजीब क ,लाहल की सृष्टि किये रहती !

और इन सब धूमधाम, शोरगुल, भीड़भाड़ और कोलाहल को अपनी धौंस से दबाती और सबपर छाती हुई एक दिन बरात भी आ ही पहुँची ! बरात, बरात ! बाजा-गाजा, धूम-धड़क्का, हाथी-घोड़े, खड़खड़िया-पालकी !

बरात दरवाजे लगी और वह सकुची, सिमटी घर में, पलंग पर, मुँह ढाँप, लेट गई। मुँह-ढाँपे, सकुची, सिमटी !— कहीं अपनी बरात कोई लड़की खुद देखती है ! किन्तु, उसके कान सुन रहे हैं—बाजा-गाजा, धूम-धड़क्का, घोड़ों की हिनहिनाहट— हाथियों के चिग्घार ! और उसके कल्पना के नेत्र—वे इस भीड़भाड़ के बीच में खोज रहे हैं; वे कौन हैं ? कहाँ हैं ? कैसे हैं ?

'वे कौन हैं ? कहाँ हैं ? कैसे हैं ?'

हाय री, बिहार की बेटियों की तकदीर—जिनके साथ तुम्हें जीवन की सारी रातें, सारे दिन, कितने महीने, कितने साल गुजारने हैं; तुम्हें हक नहीं, कि उन्हें झाँक भी सको, जब तक कि उनके हाथ तुम्हारा पूरा आत्मार्पण न हो जाय ! तुम जूही की कली हो, चुपचाप बढ़ो, खिलो, सौरभ फैलाने के योग्य बनो; किन्तु, तुम किसके गले में डाली जाओगी, यह जानने की कामना भी क्यों करो ? जिस माली ने तुम्हें बोया, सींचा, पल्लवित, पुष्पित किया, यह उसी का काम है, उसी का हक है कि वह तुम्हें जिस गले में डाल दे ! चुप, बोलो मत कि वे कौन हैं, कैसे हैं ?

किन्तु, उसे सन्तोष था, उसका माली ऐसा नहीं कि जिस-तिस के गले में उसे डाल दे। वह संस्कृत रुचि का है, दीन-दुनिया का पारखी है—अपनी बड़ी बहन की शादी में ही वह देख चुकी है !

पर, उत्कंठा को वह क्या करे ? जब बरात दरवाजा लगते ही उसकी बूढ़ी दाई दौड़ी-दौड़ी, उसे खोजती-ढूँढ़ती आई और उसे पलंग पर सकुची, सिमटी पड़ी देख, भहरा कर उसपर गिर गई और उसके माथे पर हौले-हौले हाथ फेरती हुई, बोली—"बबुई" तुम्हारा सुहाग अचल हो, तुम्हारे ही योग्य दुलहा मालिक ढूँढ़ लाये हैं"—तब तो यह उत्कंठा और भी चरम सीमा तक पहुँच गई। दाई दौड़कर फिर बरात देखने चली गई; उसकी

प्रबल इच्छा हुई, वह क्यों नहीं पिछले दरवाज़े से जाकर, ज़रा एक झाँकी देख आवे? आँखें जुड़ा ले—उमड़ते हुए हृदय-सागर की तरंगों को थपकियाँ देकर सुला दे! उफ़—हृदय की ये तरंगें! उसने बहुत-सी बाढ़ें देखी हैं, नावों को एक ही थपेड़े में डुबानेवाली तरंगे देखी हैं, किन्तु, इनके मुकाबले वे क्या थीं? ये तरंगें उसे सिर्फ डुबो नहीं रही हैं, उसे खुद तरंग बनाये जा रही हैं!—समूचा संसार सागर है, वह तरंग-सी उसपर नीची-ऊँची हो रही है!

मतवाली तरंग-सी हो वह एकाएक उठ खड़ी हुई, आगे बढ़ी, घर की चौखट एक ही छलांग में लांघ कर, आंगन में पहुँची! आंगन सूना था। घर का बच्चा-बच्चा बरात देखने में लगा था—काकी, दीदी, बहन, भाई, पुरजन-परिजन—जिनकी इधर आंगन में भरमार रहती थी—कोई नहीं! किन्तु, इस शून्यता में न जाने कहाँ से औचक आकर कोई उसके पैरों से लिपट गया। दो-एक बार उसने पैर पटके। किन्तु, यह क्या? उसके पैर उठ नहीं रहे हैं! यह कौन है? क्या है? हट, मुझे आगे बढ़ने दे। मैं तरंग हूँ। तरंग से न खेल। डूब जायगी! किन्तु, हमारी यह ज़ंजीर—मर्यादा की जंजीर! दादी, काकी, माँ ने चौदह वर्षों तक जिसे घुट्टी पिला कर पोसती रही, वही मर्यादा जंजीर बनकर उसके पैरों में पड़ी है, गड़ी है। वह जाये कहाँ? अब उसकी आँखों में ही तरंगों की लीला है। उसे कुछ सूझता ही नहीं। लौटकर वह धड़ाम से पलंग पर आ रही!

जिस समय बाजे बज रहे थे, गाने गाये जा रहे थे, आनन्द-ध्वनियाँ हो रही थीं, मंगलाचरण पढ़े जा रहे थे, उसी समय उसकी आँखों से गंगा-जमुना बह रही थी ! क्यों ? दुख से ?—'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं—उसका रोम-रोम चिल्ला उठता ! यह दुख नहीं, अतृप्त कामना थी, तृप्ति के पहले वह त्रिवेणी में डुबकियाँ लेकर अपने को पवित्र बना रही थी !

बरात जनवासे गई । उसका आंगन कोलाहल का केन्द्र बन गया । काकी उसे खोजती घर में पहुँची—'दुलारी, दुलारी, बेटी, तेरे ऐसी कोई भाग्यवती नहों । तुम्हारे ही लायक दुलहा मिला है तुम्हें—बस, राम सीता की जोड़ी !"

× × ×

राम-सीता की जोड़ी ! हाँ, तभी तो यह वनवास, यह जंगल-जंगल दौड़ना—सीता के भाग्य में तो यही बदा था न ? किन्तु, त्रेता की सीता को सन्तोष था, वह अपने राम के साथ है, न घर सही, चित्रकूट ही सही। किन्तु, यहाँ ? यहाँ, सीता अपने लव-कुश को लेकर अपनी कुटिया में राम के वनवास के दिन गिना करती है और राम ! कभी किष्किन्धा, कभी लंका ! आग लगे उस सोने की लंका में, जिसने मेरी फूस की कुटिया में आग लगाई है ! उसने रूमाल से अपने आँसू पोंछे, एक बार अपने लव-कुश—दोनों

कैदी की पत्नी :

लड़कों—को गहरी नज़र से देखा फिर अपने लम्बे आँचल के नीचे सुप्तप्राय बच्ची के मुँह में स्तन लगाते हुए, खिड़की के बाहर देखने लगी। बाहर अब सरसों के खेत ही खेत थे, फूलों से लदे। उसके वसन्ती रंग के बैक ग्राउन्ड में, उसने रंगीन तस्वीरें देखीं....

५

जिस मर्यादा ने जंजीर बनकर उसके पैर जकड़े थे, उसी ने फिर उसकी आँखों पर ताले जड़ दिये !

विवाह की लगन पहुँची। 'वे' बरात से बुलाये गये। घर की सभी स्त्रियाँ उनकी अगवानी में दरवाजे तक गईं—मधुर-मधुर शब्दों में गीत गातीं। गीत की ध्वनि में 'वे' आँगन की ओर बढ़े। वह ठीक सामने के घर में थी। रोशनी जगमग कर रही थी। उसने सोचा, बस, यही तो मौक़ा है, भर-नजर देख लूं ! किन्तु, यह क्या ? उसकी आँखें झिपने लगीं। वह आंख सामने नहीं रख सकी। उसका सिर झुक गया, जैसे किसी अदृश्य यंत्र ने उसकी गर्दन मोड़ दी हो। वह उस रंगीन शीतल-पाटी पर आप-से-आप लेट गई जिस पर वह बैठी थी।

मंडप की भावरें पड़ीं। वह सखियों द्वारा घर से लिवाई जाकर मंडप पर बिठलाई गई—बिल्कुल चादर से ढंकी। बिल्कुल चादर से ढंकी, किन्तु, उसने अनुभव किया, वह किसी की बगल में बैठी है ! 'वे' !—उसके इतना निकट हैं ! न-जाने क्यों, माघ की उस आधी रात में भी वह पसीने-पसीने हो रही थी ! हां, उसे आज भी अच्छी तरह याद है, उसकी चोली पानी-पानी हो

चली थी। साया लथपथ हो गई थी। माथे का पसीना पपनियों की राह गिर रहा था। वह रह-रह कर कांप-सी जाती थी! आह! 'वे' उसके इतने निकट बैठे हैं!

और, जब मंत्रोच्चार के बाद उसका हाथ 'उनके' हाथ में रखा गया! उसे कितना आश्चर्य हुआ, 'उनकी' हथेली की अजीब गरमी अनुभव करके! उसका समूचा शरीर उस गरमी से झनझना उठा!

नीचे उनकी हथेली, उसपर उसकी हथेली। वे उसे विधि-वत् पकड़े हुए। ब्राह्मण मंत्र पढ़ रहे। सखियां गीत गा रहीं। वायु मंडल में संगीत, आनन्द और उल्लास की तरंगें! और, इधर हमारे स्नायु-मंडल में एक अजीब सनसनी, झिनझिनी! 'हमारे'—हां, वह दावे के साथ कह सकती थी, उनका शरीर भी अपने आपे में नहीं था। उनकी हथेली की यह गरमी और रह-रह कर उनका बार बार कांप-सा उठना, उसके सबूत थे। पीछे तो उनसे पूछा भी था और उन्होंने हंसते-हंसते अपनी 'कमजोरी' कबूल की थी!

इसके बाद, सिंदूर-दान : उसके घने बालों की पाटियों के बीच उनकी अँगुलियों का सुखद-स्पर्श। सप्तपदी : उनके पैर से पैर मिला कर चलने का वह प्रथम प्रयत्न। ध्रुवदर्शन : दोनों ध्रुव देख रहे थे। उसकी कैसी नादानी? उसने ध्रुव में 'उनके' चेहरे को देखना चाहा—जैसे, ध्रुव कोई तारा न होकर, नजदीक रखा आईना हो!

लेकिन, उसके रोम-रोम तो खिल उठे तब, जब उसके पीछे खड़े हो, उसे पूरा आलिंगन में लेते हुए, एक ही डलिया को दोनों पकड़े वे लावा बिखेरने लगे। स्त्रियाँ गालियाँ गा रहीं—बाहरी, वे बेहूदी गालियाँ ! उसकी सखियाँ उन्हें हुदुक्का-पर-हुदुक्का दे रहीं, हँस रहीं, खिलखिला रहीं। इसी धक्कमधुक्की में लावा आप से आप गिरता जा रहा और उसका हृदय? उस लावे के समान ही उसका स्वच्छ, पवित्र, उज्वल हृदय—मानों छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में, उनके चरणों पर बलिहार होने को गिर-गिर पड़ रहा !

आलिंगन ! जिन्दगी में पहली बार वह पुरुष के आलिंगन में आई थी ! उसके पीछे एक तरुण, बलिष्ठ 'पुरुष' खड़ा, उसे अपनी विशाल भुजाओं में बाँधे हुआ है ! अब तुम कहाँ जाओगी, प्रियतमे ! तुम मेरी हुई। इतने स्वजन, परिजन, पुरजन के बीच तुम मेरी बाहुओं में आबद्ध हो—कोई लुका-छिपी नहीं, चोरा-चोरी नहीं, गुप-चुप, चुप-चुप नहीं ! सरे आम, गाना गाकर, सौंपी गई हो; सरे बाज़ार डंका बजा कर ग्रहण की गई हो। अब इन भुजाओं के बीच किलको, खिलो, फूलो, फलो—नारी-जीवन की यही सार्थकता है ! नर की एकांगिता की यही पूर्ति है !

उफ़—उस समय उसके हृदय में कौन-कौन सी भावनायें तरंगें ले रही थीं। उसके दिमाग़ में किन सुनहले विचारों का ताना-बाना बुना जा रहा था। उसके पैर ज़मीन पर है, उसे इसका भान भी नहीं था। उसके सर के ऊपर आसमान नाम की कोई

चीज है, इसका ज्ञान भी नहीं था। वह कल्पना के रंगीन पंख लगा कर न-जाने किस आनन्द-लोक में उड़ रही थी। मस्ती के डैने दोनों बग़ल में बाँधे, चंचल मछली सी, वह किस उल्लास-सागर में तैर रही थी ! वह नारी नहीं, तितली थी—हल्की, फुलकी; हवा के दरिया में अपने नाव का झलमल, चकमक पाल उड़ाती, गाती बजाती, किसी अनजान देश को जा रही—जहाँ हमेशा बसंत हो, पराग हो !

वसंत, फूल और पराग लिये, विवाह के तीन दिनों के संगीत, हास्य, विनोद के बाद, वह ससुराल को चली—उस अनजान देश को ! एक ओर उसे आनन्द था, वह 'उनके' साथ, 'उनके' घर जा रही है, जो घर अब 'उनका' नहीं, उसका होगा। वह उस घर की मालकिन होगी, गृहिणी का पद उसे प्राप्त होगा। तो दूसरी ओर, जहाँ उसने ज़िन्दगी के पन्द्रह बसंत बिताये थे, उस घर, उस गाँव की चप्पा-चप्पा ज़मीन, एक-एक वस्तु, एक-एक व्यक्ति, जैसे ममता के हाथों से, उसे पकड़ रहे थे, रोक रहे थे; और इस रोकथाम में उसकी छाती जैसे फटी जा रही थी ! दादी, माँ, काकी, बबुआ, बहन, सखियाँ इन्हीं का वियोग नहीं हो रहा है, यह नदी जहाँ वह चुभक चुभक कर नहाती थी, यह अमराई जहाँ उसने कितने टिकोले बीने थे, यह मौलसिरी की झुरमुट जिसके फूल के लिए वह तड़के उठकर आंख मलते आती थी, ये हरे-भरे खेत जहां वह कुसुम का फूल चुनती, मटर की फलियां तोड़ती, सरसों में खड़ी हो कर अपनी ऊँचाई नापती—ये सब के सब

उससे छूट रहे हैं ! उसकी छाती फटी जा रही थी, हृदय के टुकड़े आंखों की राह गिर रहे थे, हिचकियां बँध गई थीं, अरे, वह तो फूट कर रो पड़ी थी ! कैसे न रो पड़े— जहां कुछ देर पहले हँसी के फव्वारे छूट रहे थे, वहीं अब सब के चेहरे उसके वियोग की कल्पना में उतरे, सब की आँखों में आँसू ! माँ तो उसके गले से लिपट कर रो उठी—मातृत्व दुनिया के बन्धनों को कब मानती रही है ?

और उसके आंसू अच्छी तरह सूखने भी नहीं पाये थे कि वह फिर हँसी और चहल पहल की दुनिया में आ पहुँची। अब वह ससुराल में थी। उसकी आँखें घूंघट और चादर के दोहरी जालों के भीतर थीं, किन्तु उसके कान सुन रहे थे वहां के आनन्दोच्छ्वास ! गीत हो रहे थे, बच्चे-बच्चियां कोलाहल कर रहे थे। बड़ी-बूढ़ियां उन्हें डाँट-दबाव रही थीं। आगे-आगे 'वे' थे, पीछे-पीछे 'वह'। दोनों कोहबर-घर में लाये गये। गृह-देव का अर्चन-पूजन। वे बाहर गये। दुलहिन की मुँह-दिखौनी शुरू हुई !

उसका सौभाग्य ! लोगों को वह पसन्द आई !

किन्तु, जिनकी पसन्दगी पर उसकी जिन्दगी भर के सुख-दुख निर्भर हैं, क्या उन्होंने उसे देखा है ? शायद ? उस दिन जब वह नैहर में दुपहरिया को मंडप पर खड़ी थी, उसे लगा, जैसे उनकी नजर उसपर पड़ी थी—उसकी एक शोख सखी ने उन्हें

छल से उस ओर देखने को लाचार किया था, जो उस समय कोहबर-घर में, दरवाज़े के सामने, कुंवर कन्हैया-सा गोपियों में घिरे बैठे थे ! वह छलना का देखना-एक क्षण का ! सखी कहती थी, तुम्हें देखते ही उनकी नज़र नीचे हो गई ! उफ़, कैसे मर्द हैं वे—शर्माने में औरतों को भी कान काट लिये ! ऐसा कह कर उसकी सखी बेतहासा-हँसी थी, वह मन ही मन उनके शील-संकोच पर बलिहार हो गई थी। लेकिन, सखी की बातों का क्या ठिकाना ?

दुलहन देखने वालों की भीड़ धीरे धीरे हटी। काफी रात बीत चुकी थी। 'वे' आये !

'वे' आये, उन्होंने देखा, उनकी जीत हुई !

एक शून्य घर। साक्षी रूप में सिर्फ एक दीपक। 'वे' और वह। वह, एक पत्नी के रूप में। 'वे,' एक पति के रूप में। उफ री, प्रथम मिलन की मधुर स्मृतियां !

ज्योंही उनकी पद-ध्वनि मालूम हुई, उसकी छाती धक धक करने लगी, सांस जोर जोर से चलने लगी। वह क्या करे—क्या चुपचाप बैठी रहे ? या उठ कर अगवानी करे ? या, मुँह ढांप, सोने का बहाना करके, पलंग पर पड़ जाय ? मां ने कहा था—अगवानी करना, पैर छूना, पान देना। उस विवाहिता सखी ने कहा था—ज़रा लेट रहना, दुलारी ! देखना, किस तरह तुम्हें जगाते हैं, खुशामदें करते हैं। वे जगावें, तुम ऊँ ऊँ करके, नींद के मारे बच्चों की तरह, इस करवट से उस करवट होना और

सिमट कर सो जाया करना। बड़ा मज़ा होगा, दुलारी, बड़ा मज़ा. ये पुरुष—अपने गवँ पर ये कौन-सी खुशामदें नहीं करते? अरी, वे पैर पड़ेंगे। और, अगर पहला दिन तुमने उनपर विजय प्राप्त की, फिर तो, वे हमेशा के तुम्हारे गुलाम बने रहेंगे। . खबरदार, अपने को सस्ती मत बनाना। और, माँ ने कहा था, बेटी, अभिमान मत किया करना, कोई ऐसा काम न करना कि 'उनकी' मर्यादा टूटती हो। तुम उनकी मर्यादा तोड़ोगी, तुम्हारी मर्यादा आप से आप टूटेगी। वह क्या करें? इनमें किसकी बात माने, किस पर चले? आह, वे तो इतने नजदीक आ गये!

इसी असमंजस में वे सचमुच आ पहुँचे। आ गये और वे सामने खड़े हैं! मां की सीख रह गई, सखी का सिखावन रह गया! एक तीसरी ही बात हुई। ज्योंही वह उठने का उपक्रम कर रही थीं, उन्होंने उसके हाथ पकड़ लिये, बग़ल में बिठा लिया, और जैसे, बहुत दिनों के परिचित हों, पूछ बैठे - मजे में तो हो न?

बहुत दिनों के परिचित!—पूर्व परिचित, चिर परिचित!! हां, ऐसा ही लगा उसे। कैसे एक अपरिचित पुरुष के सामने खड़ी होऊँगी, उफ़ लाजसे गड़ जाऊँगी! गिरजाऊँगी! न जाने क्या हालत हो, न जाने मुंह से क्या निकले, कौन-सी गुस्ताखी हो जाय - हजार हजार चिन्ताएँ एक मिनट पहले तक उसे सता रही थीं। किन्तु, यह क्या? वे चिन्तायें कहाँ कपूर-वर्त्तिका सी आप-आप उड़ गईं। हाँ, कपूर के उड़ जाने पर भी जैसे उसकी सुगन्ध रह

जाती है, उसी तरह संकोच और लज्जा के रूप में उनका अवशिष्टांश यहाँ छाया हुआ जरूर है ! यह तो नारी का शृङ्गार है। यह तो चाहिये ही।

उन्होंने पान खिलाये, बातें पूछीं, हँसे और हँसाया। चुटकियों से संकोच दूर किया, गुदगुदियों से शरम भगाई। नारी और नर के बीच जो चिरकाल से एक कुहेलिका, प्रहेलिका रहती आई है, वह धीरे-धीरे दूर हुई। दुई दूर हुई, एकात्मा आई। एक सांस की डोर में बँधे दोनों कब सो गये, कैसे सो गये— क्या इसकी सुध भी उसे रही ? जब उसकी आंखें खुलीं, भोर हो गई थी। दीपक की जोत मंद पड़ गई थी, एक झक-इँजोरी-सी घर में छा रही थी। वे चलने का उपक्रम कर रहे थे। चलते चलते उन्होंने एक बार उसका गाढ़ालिंगन किया और पलंग से नीचे होते-न-होते एक स्फीत चुम्बन दे, हँसी बिखरते, देखते-देखते नौ दो ग्यारह हो गये !

× × ×

गाढ़ालिंगन, स्फीत चुम्बन !—अभी-अभी वह अनुभव कर रही है, जैसे उसके शरीर में झिनझिनी बर रही है, उसके गालों पर किसी की गरम सांस है, उसके अधरों पर किसी के उत्तप्त ओंठ हैं। उसने आंखें बन्द कर लीं—बाहर की दुनिया कहीं उसके इस कल्पना-महल को चूर-चूर न कर दे। किन्तु, क्या इस तरह अपने को ज्यादा छला जा सकता है ? जिसके आलिंगन

और चुम्बन की वह कल्पना करके विभोर हुई जाती है; वह तो इस समय पत्थर की दीवारों के अन्दर, उन मोटी मोटी आहनी सीकचों के भीतर पड़े, शायद 'उसी' की कल्पना में विभोर, लम्बी उसांसें ले रहे होंगे। हाँ, वे देशभक्त हैं, कट्टर सिद्धान्तवादी हैं, किन्तु वे मनुष्य हैं, हृदय रखते हैं, वैसा हृदय, जिसकी साक्षिणी वह स्वयं है! आह, 'उनकी' मानसिक स्थिति कैसी होगी! आँसुओं का फिर नया हुजूम, हुजूम में फिर तस्वीरों का तांता! आह, वे दिन! आह, वे रातें!

६

मध्यवित्त गृहस्थ का घर—पर्दे की जड़ता से जकड़ी, वह, क्या दिन में उन्हें भर नजर देख भी सकती थी? हाँ, जब-तक उनकी बोली वह आंगन में सुन पाती थी। एक ही रात में, हाँ, एक ही रात में, वह उनकी बोली पहचान गई थी। उनकी बोली—मिश्री घोली! बोली में भी मिठास होती है, उसने अब अनुभव किया। जब वे आंगन में बोलते, उसके दिल की डाली पर कोई कोयल-सी, जैसे, कूक जाती! कई बार वह किवाड़ के नजदीक चली जाती, जिसमें वह उस काकली को और भी स्पष्ट सुन सके, और शायद देख सके, उस कोकिल के सुन्दर मुखड़े को, जिसके अन्दर ऐसी अच्छी जबान है। किन्तु, लज्जा, नहीं, मर्यादा उसे झट खींच कर बीच घर में ले आती।

और, ऐसा मौक़ा भी तो बहुत कम मिलता, जब उसका घर खाली हो, वह किवाड़ तक जा भी सके। दिन-भर अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियां आती रहतीं, दुलहन देखने। स्त्रियों का तांता तो कई दिनों में टूटा भी, किन्तु बच्चों का हंगामा तो बना ही रहता। नई बहू को देखने से ही उन्हें सन्तोष नहीं था, वे उससे बोलना चाहते थे, खेलना चाहते थे! हां, नई बहू से बढ़कर दुनिया में खेलवाड़ की च ज और क्या हो सकती है? इन बच्चों में, उनके सरल

विनोद और निष्कपट व्यवहार में, वह भी मजा पाती। शायद ये नहीं होते, तो अपनी नैहर के वातावरण से एक-ब-एक विलग हो जाने का दुख उसे और भी सताता। यों तो, नैहर की याद जब-तब आ ही जाती; आती, रुलाती! उफ़, कब दादी को देख सकूंगी, माँ से रूठ सकूंगी, काकी से बतिया सकूंगी, बाबूजी को देख कब शरमा कर भागूंगी और अपने उस दुष्ट छोटे भाई को भिड़कूंगी, उसके गालों में मीठी चपत दूंगी! वह गांव, वे पेड़, वे खेत—फिर कब देखने को मिलेंगे?

रात में कुछ देर से 'वे' पहुँचते। पहुँचते अपने साथ हँसी, विनोद, आमोद-प्रमोद सब कुछ लिये-दिये। वह ऐसी हरणी है, जो अपने गोल से, अपने जंगल से तुरत-तुरत बिलगाकर यहां लाई गई है, अतः जरूरी है, उसका मन बहलाया जाय, भुलाया जाय, फुसलाया जाय—उनका पारखी हृदय यह अच्छी तरह समझता। अतः, रोज कुछ नये-नये शिगूफे छोड़ते। नई बात, नई कहानी, नये चुटकले, नये सौगात!

नये सौगात! जिन्हें वह अपने घरवालों की नजर बचाकर लाते। लोग क्या कहेंगे, कलजुगहा है, अभी शादी हुए दिन भी न बीते, और बीबी की फरमाइशें पूरी करने लगा! अतः, यह चोरी-छिपी। लेकिन, वह उनसे क्या फरमाइश करती भला? क्या उसके लिए सिर्फ वे ही काफी न थे, जो दूसरी चीजों की वह ख़ाहिश करे! देहात की वह लड़की—उसके दिमाग का दायरा ही कितना बड़ा कि वह नई-नई चीजें मांगें? और, जो चीजें

चाहिये, उसके नैहर वालों ने एक-एक कर दी थीं उसे। उसकी काकी ने एक भी ऐसी चीज़ नहीं छोड़ी थी, जो उसे पसंद हो। क़ीमती, रंग-बिरंगी, शराबोर साड़ियों से न जाने क्यों, शुरू से ही उसे उदासीनता रही है और गहनों की ओर भी उसका मन कभी गुड़-चींटा नहीं बना। अतः, उसकी इच्छा की पूर्त्ति के लिए नैहरवालों को ज्यादा खर्च भी नहीं करना पड़ा था। यों, वह सब तरह सन्तुष्ट थीं; किन्तु, 'उनको' जो सन्तोष हो।

किन्तु, सौगातों से भी प्यारी थी उनकी बातें। वह आते, आते ही बातें शुरू हो जातीं। कुछ उससे पूछते, कुछ आप कहते। इसी पूछ-कह में रात न जाने कैसे बीत जाती। जब ऊपर के जंगले से घर में उषाकालीन प्रकाश घुसता, हम प्रायः ही कह उठते—ओहो, दिन हो गया? रात बीत गई? कितनी छोटी होती है रात आजकल! क्या सचमुच उन दिनों रात छोटी होती थी? या, हमीं रात को छोटी कर लेते थे? यह प्रकाश देख, जब वे जाने को तैयार होते उसे कितना अखरता! विधाता दिन को भी रात ही क्यों नहीं बना देता? दिन के बिना भला क्या बनता-बिगड़ता है—वह अपने भोलेपन में सोचा करती!

इस रात्रि-जागरण के फल-स्वरूप दिन में वह, थोड़ा-सा भी सुअवसर पाते ही, सो जाती। एक दिन दुपहरिया में वह सोई थी। घरवाले भी खा-पीकर निश्चिन्त थे। शादी की भीड़-भाड़ से फुर्सत पाकर वे सब निश्चिन्त, अलसाये पड़े थे। न-जाने, किस तरह उनकी आंख बचाकर 'वे' झट घर में घुस आये। वह सोई

हुई थी—आते ही उन्होंने उसके गालों पर अपने अधर रख दिये! यह कौन? दिन में यह कौन? क्या किसी दुष्ट देवर ने यह खेलवाड़ किया है? या किसी शोख ननद ने? वह चीखने ही जा रही थी, कि उसने पाया, उसके मुँह पर किसी की अंगुलियाँ हैं और सामने किसी का हँसता-दमकता चेहरा। वह उठना चाहती थी कि वह किसी के भुजपाश में थी। वह चिर-परिचित भुजपाश! अटूट, अछेद्य,—स्नेह-पाश, प्रेमपाश!

रात तो 'उनके' कौतुकों की क्रीड़ास्थली ही थी। कभी कहते, बाल को यों सम्हालो, कभी यों। कभी यह साड़ी पहनने को कहते, कभी वह। उसे यह जानने में ज्यादा देर न लगी कि उन्हें हल्के हरे रंग से कुछ खास दिलचस्पी है। शायद दुनिया को वह हमेशा हरी-भरी देखना पसंद करते! हरी साड़ी पर चोली किस रंग की जमती है, इसको लेकर तर्क-वितर्क होता। हरी किनारी वाली साड़ी को किस रंग में रंगाना चाहिये, यह भी विचार का विषय होता! गहने?—यह कान में क्या लटक रहा है? यह नाक में क्या गड़ा रखा है? यह गर्दन शृङ्गार क्यों चाहे? और, छाती पर हार रखना तो दो हृदयों के मिलन में बाधा पहुँचाना है। कमर में झुम-झम, पैर में रुन-झुन—उहँ, तू पूरी गँवारी है! एक रात एक-एक कर सभी गहने हटा दिये। जरा देख तो आईना! कैसी लगती है अब? और, हां, हां, यह चोली ही क्यों रहे?—वह हा-हा खाने लगी; वे चिपक पड़े, नहीं उतारना ही होगा। क्या यह आंचल ही शरीर ढँकने को काफी

नहीं ? भला यह भी कोई तर्क था ? किन्तु, जबर्दस्ती तो दुनिया में खुद सब से बड़ी दलील है। उन्होंने जबर्दस्ती की। वह शरम से गड़ी जा रही थी और वे·······

यह आईना। आईने के सामने खड़े होकर, हाथ में आईना लेकर, कितना समय न उन्होंने बर्बाद किया होगा ? दोनों के मुँह का प्रतिबिम्ब आईने में पड़ता था। वे उसके मुँह के एक-एक अवयव का विश्लेषण करते। देख, तेरा यह मुखड़ा। काली पाटियों के बीच यह सिन्दूर-बिन्दु—मानो, काली घटा में अचल विद्युत रेखा ! चांद से ललाट के नीचे भँवों की लचीली कमान—काम ने आज क्या चन्द्रमा को ही अपना निशाना बनाया है ? नीचे दो चंचल मछलियाँ खेल रहीं—रस-सागर में डूबतीं-उतरातीं ! अरी, पगली, तेरी ये पलकें-कितनी लम्बी-लम्बी हैं ये ? कौन ऐसा पत्थर का कलेजा है, जिसमें ये साफ घुस न जायँ ? दोनों ओर गुलाब खिले हैं, बीच में चम्पेकी कली-यह थी उसकी नाक और गालों की उपमा। ये दो अधरें—जरा मुस्कुरा दो न ? नये आम्र-पल्लवों के बीच दाड़िम के दाने बिखर पड़ें, निखर पड़ें ! और, सब रस का निचोड़ तो उस खड्ड में आकर जमा हो गया है—उसके चिबुक को पकड़कर वह कह उठते ! वह चुपचाप सुना करती। कभी-कभी उसे अपने पर नाज भी होता। इस तरह अपने को उसने कभी देखा नहीं था—इस तरह, विलग-विलग करके, अपने को अपने से अलग करके। किन्तु, ज्यादातर

से शरम ही आती। "उहँ—यह क्या बक रहे हैं आप; आप ही क्या कम हैं ?"

"वाह, हूँ क्यों नहीं, सोने की अंगूठी का नीला नग ?"

"नीलम का नग क्यों नहीं कहते !'

"कभी देखा भी है नीलम ?"

उसने आईने में ही उनके चेहरे की ओर हँसते हुए इशारा किया। उन्होंने उसे छाती से लगा लिया। बेचारा आईना! टुकुर-टुकुर देखा किया वह।

एक रात, न-जाने क्या धुन में आई, वोले—"तुम्हारा नाम क्या है जी !"

"आप नही जानते क्या ?'

"सुना तो है, किन्तु जानता नहीं।"

"वाह, क्या खूब ? जो सुना है, वही मेरा नाम।"

"दुलारी न ?"

"जी हां।"

"लेकिन, दुलारी नाम तो बाप का होता है; बाप का कहो, नैहर का कहो।"

"तो पतिदेव का, या, यों कहिये, ससुराल का नाम क्या होना चाहिये, आप तो बतलाये ?"

कैदी की पत्नी :

"मैंने तो पहले से ही एक नाम चुन रखा है ?"

"वह क्या है ?"

"रानी !—"मेरी कुटिया की रानी ही, मेरे दिल की रानी !"

वे गुनगुनाने लगे, गाने लगे ! मुँह से गाते और एक हाथ से उसे अपने हृदय से लगाये दूसरे से उसके बालों को सहलाते ! वह उनका स्वर, वह उनके हृदय का मधुर कम्पन, वह उनका कोमल कर-स्पर्श ! उसकी आँखें बन्द हो गईं। उसने अनुभव किया, वह ऊपर उठी जा रही है, वह और वे दोनों—इसी मुद्रा में, इसी आसन में ! नीचे पलंग छूट गया है, घर छूट गया है, ज़मीन छूट गई है। वह आसमान में है, गगनमंडल में है, चारों ओर चकमक तारे हैं, दूर पर चाँद हँस रहा है, वायुमंडल में सौरभ और संगीत छा रहा है, वह उड़ी जा रही है—वे उड़े जा रहे हैं—वह और वे दोनों—दोनों—दोनों········

× × ×

ऐं, यह गाड़ी अचानक रुकी क्यों ? हाय री तकदीर, तुम्हें इतना भी पसंद नहीं कि वह कुछ देर तक कल्पना की दुनिया में विचार ले! बीच में पुल खराब होगया था, उसी की मरम्मत हो रही थी। किन्तु, क्या उसे यह जानने की फुर्सत थी कि वह कई स्टेशन बीच में छोड़ आई है ! वह तो अपनी तस्वीरों में मस्त थी, तस्वीरों की वह निराली दुनिया—

७

"देखो रानी, आज तुम्हारे लिए एक बिल्कुल नायाब सौगात लाया हूँ"—यह कहते हुए, किस मधुर मुस्कान में उस रात उन्होंने घर में प्रवेश किया !

वह उछली, उनकी बगल से पोटली छीन ली। एक रेशमी रूमाल में लपटी हुई उस सौगात को जब उसने खोला, देखा—उसमें पाँच बढ़िया-बढ़िया, सुन्दर जिल्द वाली, बहुत-सी तस्वीरों वाली पुस्तकें हैं ! वह एक-एक किताब को देखती, उनके भीतर की तस्वीरों को देखती। वह उन किताबों और तस्वीरों को देखती, मन-ही-मन, इस बहुमूल्य उपहार के लिए उन्हें बधाई देने का सोच ही रही थी कि वे फिर बोले—

"मैं कल शहर जा रहा हूँ—छुट्टी पूरी हो गई। पढ़ाई में ज्यादा हर्ज करना ठीक नहीं; समझी ?"

पढ़ाई में जरा भी हर्ज करना ठीक नहीं, क्या वह नहीं जानती ? क्या नहीं समझती ? नैहर में ही उसने सुन रखा था, वे पढ़ रहे थे—बहुत पढ़ गये हैं, पढ़ने में बड़े तेज हैं, सरकार से स्कालर-शिप पाते हैं। इस चर्चा के साथ उसने वहीं यह भी सुना था, लड़के शादी होने पर पढ़ना-लिखना छोड़ देते हैं। उनकी

बेवकूफ बीवियाँ उन्हें अपने सामने रखने की धुन में उन्हें छोड़ती नहीं। वे भी प्रेम के प्रथम आवेग में किताब के पन्ने उलटने की अपेक्षा बीवी की घूंघट उलटना ज्यादा ज़रूरी और क़ीमती मानते हैं। नतीजा यह, कि कितने होनहार नौजवान बर्बाद हो गये, बर्बाद हो गया उनका भविष्य, उनके घर। उसकी एक भावज ने उस दिन जैसे उसे ताना देते हुए कहा था— "मेहमानजी पढ़ रहे हैं; लेकिन, देखना है, दुलारी बबुई के मुंह और कोर्स की किताब में, आखिर जीत किसकी जीत होती है?" उसी दिन दुलारी ने मन-ही-मन इसका उत्तर ठीक कर लिया था—वह उस मुँह पर तेजाब छिड़क लेगी, जो मुँह उन्हें किताब से विमुख करे।

किन्तु, उस दिन वही दुलारी उनके अकस्मात् जाने की यह खबर सुन कर स्तब्ध रह गई! किताबें पाने का जो आनन्द अभी अंकुर ले पाया था, मानों, उसपर गरम पानी का छींटा पड़ गया। उसके मुख की उत्फुल्लता देखते-देखते परिछाईं में बदल गई। हृदय में प्रसन्नता की जो हल्की लहर अभी-अभी उठ पाई,थी वह उच्छ्वास में परिणत होती देख पड़ी। उसकी आँखों ने तो मानो उसे बेभरम ही कर डाला। उसकी सजल आँखों में अपनी विनोदी आँखें गड़ा कर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—

"रानीजी, यह रवैया तो ठीक नहीं!"

वह जैसे चौंक उठी। इसमें उसके ज्ञान पर अपील ही नहीं थी, उसकी बेवकूफी पर जबर्दस्त ठोकर भी। यह प्रेम नहीं, मोह

है। मोह, विलास, वासना ! वह प्रेम क्या प्रेम है, जो परिणाम न देखे, भविष्य न देखे ? जो क्षणिक सुख के लिए जीवन भर के आनन्द को लंगड़ा बना दे, लुंज कर दे, उसकी अकाल हत्या कर दे ! वह सजग हो गई। हृदय के आवेग को रोका, चेहरे पर सुर्खी लाने की कोशिश की। उनकी आँखों में आँखें डाल कर ही बोल उठी—

"तो क्या मैं आपको रोकना चाहती हूँ ?"

"यदि ऐसा करो, तो मेरी रानी कैसी ? मेरी रानी ऐसी गलती कर नहीं सकती"—कह कर उन्होंने प्रेम का एक ताजा चिन्ह उसके गालों पर दे दिया। फिर कहने लगे—"घबराना नहीं, रानी। छुट्टी होते ही मैं चला आया करूंगा। इसके बाद ही गर्मियों की बड़ी छुट्टी होती है। बहुत दिन तक साथ रहने का मौका मिलेगा। तब तक ये किताबें हैं, जब जी न लगे, इन्हें ही पढ़ना। इन्हें किताब नहीं, अपनी सखी समझना।"

"सखी, या सौत ?"

वह बीच ही में बोल उठी—एक विनोद उसे सूझ गया। किन्तु, तुरत उसे लज्जा हुई, यह क्या बोल चुकी वह ? वे मुस्कुरा कर रह गये, सिर्फ इतना कहा—"तू अभी बिल्कुल बच्ची है ?" और, किताबों को उलट-पुलट कर दिखाने लगे। पहले एक-एक तस्वीरें दिखाईं, उनकी बारीकियाँ बतलाईं। फिर कहने लगे—जरा पढ़ो न, सूनूँ। "क्या मेरा इम्तिहान होगा ?"—उसने कहा ! "ओहो, तुम तो वकील होने

लायक थी ।" "मैं न सही, मेरे राजा सही ?"—इस प्रत्युत्तर से वे खूब ही प्रसन्न हुए । उसने कहा - "आप ने किताबें पहले क्यों न दीं ? जरा, आप से भी पढ़ती ।" उन्होंने जवाब दिया—"मैं खुद जो एक किताब पढ़ने में मस्त था ।" और, वह किताब क्या थी, क्या वह नहीं समझ सकीं ?

"तो आपने मुझे किताब मान लिया है ?"—उसने व्यंग से कहा ।

"रानी, हर आदमी एक किताब है । जिस तरह किताब में ऊपर जिल्द और भीतर तस्वीरें होती हैं, भूमिका होती है, अलग-अगल अध्याय होते हैं, अन्त में परिशिष्ठ होता है, उसी तरह आदमी के जीवन में भी वाह्य आवरण, अन्तःप्रदेश, बचपन और बुढ़ापा और उनके बीच जीवन के भिन्न-भिन्न विभाग होते हैं । किसी किताब की जिल्द तो अच्छी होती है, भीतर का विषय खराब, किसी की तस्वीरें तो सुन्दर होती हैं, लेकिन वर्णन वीभत्स—संक्षेप में, कोई किताब अच्छी, कोई किताब बुरी; कोई किताब सिर्फ एक बार पढ़ लेने की होती है और कोई बार-बार मनन करने की—यों ही, आदमी-आदमी में भी फर्क है । पुस्तकों के चुनाव की तरह आदमी का भी चुनाव करना चाहिये । पिछले कुछ दिन हम दोनों ने भावना की दुनियाँ में गँवाये हैं । जिन्दगी में इनके लिए भी जगह होनी चाहिये, है । किन्तु, धीरे-धीरे हमें ठोस जमीन पर पैर रखना होगा और एक लम्बी जिन्दगी इस जमीन पर ही गुजारनी पड़ेगी । उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए हमें आदमी की पहचान करनी होगी । अगर इसमें हमने

भूल की, हम रोते जीयेंगे, पछताते मरेंगे। अगर हम सही-सही पहचान कर सके, तब फिर आनन्द-ही-आनन्द में दिन कट जायँगे; हम खुद ही आनन्द से नहीं रहेंगे, जहाँ रहेंगे, आनन्द का वातावरण बनाये रखेंगे……"

यों वे कहते जा रहे थे, वह सुनती जा रही थी। इसके बाद फिर उन्होंने अपने घर के बारे में कहना शुरू किया। जिनके मुँह से कल तक वह सिर्फ प्रेम, हास्य, विनोद और विलास की बातें सुनती आ रही थी, इस समय वे ही ज्ञान, वयवहार, लोकाचार की बातें इस तरह कर रहे थे कि उसे शक होता, क्या ये वही आदमी हैं ? वह रह-रह कर उनका मुँह देखती ! वे बड़े ही गम्भीर भाव से कहे जाते। मानो ये शब्द नहीं थे, उनका हृदय शब्द रूप में निकल रहा था। वह भी भाव-मग्न हो उनके एक-एक अक्षर को सुनती रही—सुनती रही, कान के रास्ते हृदय में उतारती रही। उनकी वे बातें ? क्या यह सच नहीं है कि उस दिन का उनका वह उपदेश-कथन परवर्ती जीवन में उसके लिए दृढ़ सम्बल बना, नहीं तो, न-जाने वह कहाँ रह गई होती, बह गई होती। उस दिन उसे अनुभव हुआ, जिन हाथों को उसने पकड़ा है, वे सिर्फ प्रेम-समुद्र में थपकियाँ ही नहीं ले सकते हैं, अपार संसार-सागर के पार करने में भी समर्थ हैं। उसने ऐसे पति पाने पर गर्व भी अनुभव किया !

जिस समय उनकी बातें खतम हुईं, घर भर में एक अजीब सन्नाटा था। इस सन्नाटे पन को उन्होंने भी महसूस किया।

उनके चेहरे की ही तरह उसका चेहरा भी गम्भीर हो चला था।

इस सन्नाटे, इस गम्भीरता को कम करने के लिए उन्होंने फिर विनोद का प्रसंग छेड़ा। पांचों किताबें पड़ी हुई थीं। उनकी कुछ तस्वीर निकाल कर उनकी व्यंगपूर्ण व्याख्या करने लगे। देखो, यह बेचारी है शूर्पनखा, कितनी सुन्दरी!—देखो, यह सुन्दर चेहरा! और इतने पर भी लक्ष्मण महाराज नहीं रीझे, नाक-कान काट लिये! कुछ मर्द ऐसे ही होते हैं! कितना भी रिझाओ, रीझते नहीं! और, यह हैं हमारे अर्जुन—जहाँ गये, वहीं एक प्रेयसी कर ली। अपने गुरुदेव के घर को भी अछूता नहीं छोड़ा! देखो, सुभद्रा को रथ पर चढ़ाये भागे जा रहे हैं। रानी, बताओ, तुम्हें किस तरह के मर्द पसंद हैं। क्या कहा—'लक्ष्मण'? तब तो, एक दिन तेरी भी नाक कटेगी?

"उसकी नाक कट कर रहेगी, जो यों दर-दर दिल का सौदा करती फिरे!"—वह तमक कर बोली। उन्होंने हुलस कर उसे हृदय से लगा लिया!

दूसरी रात बिदाई की रात थी! किन्तु, उस समूची रात को उन्होंने इस तरह बिता दिया कि उसे यह महसूस करने का मौक़ा भी नहीं मिला, कि कल वे जायँगे। जोरों से हँसते थे, बात-बात पर चुटकले कसते थे! एकाध बार उसने कल जाने की चर्चा करनी चाही, उन्होंने, अनखा कर रोक दिया और झट कोई सरस प्रसंग खड़ा कर दिया। हाँ, जब भोर हुई, वह घर से जाने को तैयार

हुए, उसकी आँखें सजल हो ही गईं, बोली—"फिर कब दर्शन होंगे ?

"बस, यही थोड़ी देर बाद, तुमसे मिलकर जाऊंगा न ? इन्तज़ाम कर लिया है; घबराओ मत।"

और, कुछ दिन उठे, जब वह उदास, विएणा अपने घर में बैठी थी, अपनी किताबें खोजते, वह पहुँच गये। किताब तो बहाना थी, असल बात थी, उससे मिलना। ससुराल से जो कपड़े मिले थे, बड़ी सजधज से उसे पहने थे। घर में घुस कर किवाड़ भिड़का दिये और नजदीक आकर हँसते हुए बोले—"रानी, अच्छा लगता है न ? देख तो। देख पगली, देख ! लोग ससुराल की चीजों की शिकायत तो न करेंगे ? यह शिकायत तुम्हारी शिकायत होगी ? लोग कहेंगे, जहाँ के कपड़े ऐसे, वहाँ की दुलहन कैसी ? बोल; तू तो चुप है। क्या आज से ही मौन व्रत शुरू हुआ ? तो ले, मैं व्रत को भंग किये देता हूँ !"—यों कहते-कहते उसे आलिंगन में ले लिया और सारे चेहरे को चुम्बनों से भर दिया ! "अब तो व्रत-भंग हुआ, बोल न ?"

वह तो नहीं बोल सकी, उसकी आँखें बूँदें गिरा-गिरा कर जरूर अपनी विनय सुनाने लगी ! उसने देखा, उनका विनोदी व भाव भी गमगीन हो चला है। गला रूँधा हुआ है, चेहरा भारी हो गया है। अरे, उनकी आँखें ? क्या वे भी सजल नहीं हो उठी हैं ? किन्तु, तो भी, वे मर्द थे, मर्द का हृदय था। उन्होंने अपने को जप्त किया, कहा—"घबराना मत, गर्मी की छुट्टी

नजदीक ही है। मैं जल्दी आया। जाते ही चिट्ठी लिखूँगा—हाँ, जैसा परसों समझाया, उसके मुताबिक चलने की कोशिश करना। समझे ? समझी मेरी रानी ? ओहो, तू बड़ी नटखट है ! भोली, बच्ची, नादान—और नादान को तो चांटें लगाते हैं न ?" चलते-चलते एक मीठी चपत उन्होंने उसके गाल पर जड़ दी !

× × ×

मीठी चपत ?—ऐ, सचमुच मीठी चपत ! उसकी भोली बिटिया नींद से जागकर उसके मुँह की ओर देख रही थी और उसे अपनी ओर मुखातिब नहीं होते देख कर उसने अपनी गुलाबी हथेली से उसके गाल पर आखिर एक चपत जड़ ही दी थी। चौंक कर उसने उसकी ओर देखा। सामने के बैंच पर जो एक भले मानस बैठे थे, वे बच्ची की शोखी पर मुस्कुरा रहे थे। वह भी मुस्कुरा पड़ी। बच्ची को समेट कर छाती से लगा लिया और बड़े लड़के से लेमनचूस लेकर उसके हाथों में दे दिया। बच्ची लपक कर भाई की गोद में जा रही। दोनों भाई उसे खेलाने, या उससे खुद खेलने लगे। और वह फिर अपनी तस्वीरों की दुनियाँ में जाना ही चाहती थी कि गाड़ी धीमी हुई, कुलियों का कोलाहल बढ़ा······

जंक्शन

कुलियों के कोलाहल के बीच चढ़ने और उतरने वालों में रेलपेल। कई तरफ से गाड़ियाँ आती थीं। यात्रियों में धक्कम-धुक्का-सा हो रहा था। खोमचे वालों ने और कुहराम मचा रखा था। मुस्तंडापन गरज रहा था, भलमनसाहत सिमटी जा रही थी। जैसे-तैसे रानी का यह काफला भी उतरा। पता चला, अभी जिस गाड़ी से वह जायगी, उसके आने में देर है, वह कुछ लेट है। देवर ने कहा—वेटिंग रूम में चल कर ठहरा जाय। बड़े लड़के ने ताईद की। उसे तो अनुसरण मात्र करना था। बच्ची को गोद लिये, छोटे लड़के की अंगुली पकड़े, वह चली।

वह वेटिंग रूम में बैठी। देवर और बड़ा लड़का स्टेशन की सैर में निकले। छोटा लड़का बाहर निकल झट एक खोमचे वाले को बुला लाया। एक खोमचे वाले की बिक्री ने दूसरे खोमचे वालों को प्रोत्साहित किया। कुछ देर में उस वेटिंग रूम में मिठाइयाँ, फल और खिलौनों की एक छोटी प्रदर्शनी लगी थी। खरीदना ही पड़ा उसे—बच्चे की जिद और बच्ची की ललक। एक के तीन देने पड़े। बच्ची कचकड़े का झुनझुना बजा रही थी। बच्चा एक हाथ में रबर की रंगीन गेंद पकडे, दूसरे से अंगूर खा रहा था और माँ से कह रहा था, तुम मिठाइयाँ खाओ। उधर देवर और लड़के ने रिफ्रेशमेंट रूम में नाश्ता किया, चाय पी। पान

खाकर, स्टाल पर से कुछ फल खरीद वे वेटिंग रूम में पहुँचे—वे जानते थे, वह स्टेशन पर की कच्ची-पक्की चीजें खाती नहीं है। थोड़ा फलाहार ही सही—देवर का आग्रह था। वह टाल न सकी।

गाड़ी में बैठे-बैठे, फिर वेटिंग रूम में इतनी देर तक बैठने के कारण, दिल और दिमाग के साथ ही साथ जिस्म में भी काफी हरारत वह अनुभव कर रही थी। बच्ची और छोटे बच्चे को उनके काका के साथ खेलने को छोड़ कर, बड़े लड़के के साथ वह वेटिंग रूम से बाहर हुई। स्टेशन पर खूब ही भीड़भाड़ थी। शादी ब्याह की लगन होने के कारण तरह-तरह के, रंग-बिरंगे, लोगों से स्टेशन का चप्पा-चप्पा जमीन भरा था। कितने दुलहे अजीब पोशाक, अजीब पग्गड़, अजीब ढंग का चन्दन और काजल लगाये, बिला जरूरत मुँह में रूमाल ठूंसे, बैठे हुए थे। जगह-जगह दुलहनें साड़ी-चादर में लिपटी अजीबोगरीब गठरी-सी बनी थीं। उनकी दाइयाँ उनके पर्दे की बेपर्दगी को ढंकने में बेहद मुस्तैद। कुछ नये-नवेले दुलहे और कुछ नई रोशनी की दुलहनें भी उसने देखीं। इतनी भीड़भाड़ में भी जैसे उन्हें दुनिया को देखने की फुर्सत न हो—एक दूसरे के देखने-निहारने में ही मस्त। उस पर्दे की बेपर्दगी और इस बेपर्दगी के पर्दे में उसे कुछ ज्यादा फर्क नहीं मालूम हुआ। जगह-जगह बाजे बज रहे थे। बरातियों की तरह-तरह की पोशाक में रंगीनी और भद्देपन की अजब पुट थी। लोग शिवजी की बरात का मजाक व्यर्थ में उड़ाते हैं, यहाँ तो

हमारी हर बरात शिवजी की बरात होती है—'कोउ मुख-हीन, विपुलमुख काहू' आदि का प्रत्यक्ष प्रमाण !

इन दृश्यों ने उसके मन के बोझ को हलका किया। वह धीरे-धीरे प्लेटफार्म के आखिरी छोर तक चली आई, जहाँ से पश्चिम रुख होते ही, उसका ध्यान डूबते हुए सूरज की ओर गया। इस बसंत में जो वरदान की तरह ही कभी-कभी दीख पड़ता है, बादल का एक हलका टुकड़ा मानो सूरज की राह रोके खड़ा था। सूरज-देवता उसकी शोखी पर हँस रहे थे और उनकी हँसी का गुलाबी रंग उस भूरे बादल को लाल-भभूका बना रहा था। नजदीक ही जो लोहे का बेंच पड़ा था, वह उस पर बैठ गई और अस्तकालीन सूरज का बादल के साथ की यह आँख-मिचौनी देखने लगी !

आखिर सूरज डूब गया। बादल का गुलाबी रंग जाता रहा, उसका अपना भूरा रंग भी नहीं रहा—धीरे-धीरे काला होता, वह तमिस्र क्षितिज में कहाँ लीन हो गया, पता तक नहीं! क्या आदमी के भाग्य की उपमा इस बादल के टुकड़े से नहीं दी जा सकती? अपने जीवन-पथ पर चलते चलते कभी-कभी वह योंही अचानक घटना-वश, अकस्मात् रंगीन बन जाता; अपने क्षणिक सौन्दर्य और ऐश्वर्य से लोक-लोचनों को तृप्त करता, धन्य-धन्य कहलाता; फिर अनन्त अंतरिक्ष में न-जाने कहाँ लुप्त हो जाता है। बड़ा सौभाग्य हुआ, तो किसी चित्रकार की कूची, किसी कलाकार

को कलम से इतिहास-पट पर थोड़ी-सी जगह वह पा सका, नहीं तो · · · · ·

इसी समय उसके लड़के ने कहा, घंटी हो रही है, शायद ट्रेन आने वाली है। वह हड़बड़ा कर उठी। समूचा स्टेशन बिजली की रोशनी से जगमग हो रही थी। लोगों में एक अजीब हल-चल—हलचल क्या भगदड़, मची हुई थी। वह लपकते पैर वेटिंग रूम में आई। वहाँ उसकी बच्ची उसके लिए रो रही थी, बच्चा अपने चाचा को बेचैन किये हुआ था। झट बेटी को गोद में लिया, बेटे को बगल से सटाकर उसे पुचकारने लगी। तब तक कुली भी आ पहुँचे। सब प्लेटफार्म पर आ खड़े हुए।

गाड़ी आई। सब चढ़े। भीड़ ज्यादा थी। इन्टर क्लास में भी धक्कमधुक्की। किन्तु, किसी तरह जगह मिली। सब बैठ गये। हरी रोशनी के इशारे पर गाड़ी चली। प्लेटफार्म तक तो बाहर रोशनी-ही-रोशनी थी। बाद में, जब उसने बाहर देखा, अंधकार ही अंधकार। डब्बे की रोशनी को बाहर का अंधकार मानो चारो ओर से दबा रहा। उसके दबाव से सिसकियाँ लेता, आकुल-व्याकुल डब्बा वेग से भागा जाता।

प्रकाश और अंधकार के इस संघर्ष ने उसके जीवन के उन तस्वीरों को दिखाना शुरू किया, जहाँ अब ज्यादा अंधकार-ही अंधकार—चारों ओर के निविड़ अंधकार में प्रकाश का एक छोटा-सा घेरा, जो उसे जिला रहा, बढ़ा रहा, रास्ता बता रहा! कई बार ऐसा लगा था, अब प्रकाश बुझा, बुता, गया। शायद

अंधकार की कल्पना से ही उसके दम घुटने पर हो गये थे। किन्तु, हर बार अंधकार असमर्थ सिद्ध हुआ, प्रकाश फिर प्रकाश में आया। प्रकाश और अंधकार का यह संघर्ष कब तक चलता रहेगा? क्या ऐसे दिन न आयेंगे, जब प्रकाश ही प्रकाश हो? जीवन में प्रकाश, जगत में प्रकाश! किन्तु, क्या वह प्रकाश हमारी आँखों में चकाचौंध न लगा देगा? हमारे मन को बेचैन, हृदय को उद्वेलित न कर देगा? छाया आदमी के अस्तित्व का का एक प्रमाण है। अंधकार ही प्रकाश को प्रकाश नाम देता है। अंधकार और प्रकाश के संघर्ष का नाम ही जीवन है! जब तक छाया और प्रकाश—लाइट ऐंड शेड—का सम्मिश्रण न हो, तस्वीरें बन नहीं सकतीं - एक दिन उन्होंने ही तो उससे हँसते-हँसते कहा था। आज प्रत्यक्षत: वह देखती है—अंधकार और प्रकाश की आँख मिचौनी उसके सम्पूर्ण जीवन को तस्वीर ही तस्वीर बना रही है!

८

वे अपने अध्ययन की धुन में शहर चले गये। समझा कर गये, बुझा कर गये, हँसा कर गये, चपतिया कर गये। उसे विनोद में छोड़ने, प्रमोद में रखने के लिए उन्होंने एक कोशिश नहीं छोड़ी। घर वालों से भी शायद इशारतन कुछ कह गये। उन लोगों ने भी उसे बहलाये रखने की पूरी कोशिश की। ननदें घेरे रहतीं, देवर गुदगुदाते रहते। बड़ी, बूढ़ी सब जैसे उसे हाथ पर लिये फिरतीं। किन्तु, इन सब के बावजूद, उसके दिल में एक अजीब उदासी छाई रहती, उसके दिमाग में उचाट बसी होती। रह-रह कर तबीयत घबराती। मालूम होता, उसके हृदय का एक हिस्सा निकाल लिया गया है, वह खाली जगह साँय-साँय किये रहती है! कभी-कभी वहाँ एक अजीब पीड़ा, दर्द, टीस का वह अनुभव करती। ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, उसे क्या होने जा रहा है?

इस एक पखवाड़े में ही वे उसकी जिन्दगी में इतना बस गये, रस गये, घुलमिल गये, एक हो गये थे कि उनका वियोग उसे इतना अपूर्ण फलतः विह्वल, विकल बनाये हुए है, इसकी कल्पना पर उसे खुद आश्चर्य होता! नई दुलहनें क्यों अपने 'पढ़क्कू' पति को अपने आँचल का 'पालतू' तोता बना डालती हैं, अब उसकी समझ में आ रहा है! बैठती है, तो लेटने की इच्छा

होती है; लेटती है, तो अकस्मात् खड़ी हो कर टहलने लगती है। खाने बैठती है, तो ग्रास कंठ के नीचे नहीं उतरते; पानी उसके जीवन का आधार हो रहा है। उसकी अधरें मरुभूमि बन गई हैं, आँखों में सावन समा गया है। एक ओर हूहू-धूधू, दूसरी ओर रिमझिम, झिर-झिर! दिन तो जैसे-तैसे कट भी जाते हैं, किन्तु, रात तो उसको काटने दौड़ती है। यह सब क्या है, क्यों है?

प्रथम वियोग! उसने सुख सागर में पढ़ा था, कृष्ण के वियोग में गोपियाँ दिन रात रोया करती थीं! पहले वह सोचती, यह क्या बात कि मर्द बाहर जाय, तो औरतें छाती कूटें, पीटें। यह पागलपन है जी, इसी का नाम है 'तिरिया चरित्तर', जिसके लिए स्त्रियाँ बदनाम हैं। कोई जाता है, जाये; फिर आवेगा ही। अगर न भी आये, तो अपना क्या वश? फिर, रोना-धोना क्यों? वह जाता है, वह नहीं आता—साफ है, उसके दिल में हमारे लिए पीड़ा नहीं है, दर्द नहीं है। फिर, हमीं क्यों दिल-दिल, दर्द-दर्द चिल्लाते रहें। जिस हाड़, मांस, मज्जा का पुरुष का हृदय बना है, उसी का स्त्रियों का। पुरुष हँसते-हँसते जायँ, जाते ही भूल जायँ, अपने लिए नई दुनिया बसायें, और स्त्रियाँ आंसू से बिदाई दे, उनके नाम की माला जपा करे, अपनी बसी-बसाई दुनिया को उसाँसों की आँधी में उजाड़ दें, आँसुओं की बाढ़ में डुबो दें! छी-छी! यह स्त्रियों के लिए शरम की बात है। किन्तु, जब अपने सर पर आया, ये सारे ज्ञान, तर्क कहाँ हवा

हो गये ? चलते समय उसकी आँखों ने उसे बेभरम किया, अब उसका समूचा शरीर, शरीर का एक-एक अवयव उसे तबाह और बर्बाद करने पर तुला है ! प्रथम वियोग !—उफ, अजीब शै है यह, जिसे वह समझ नहीं पाती, और नासमझी का उपचार ही क्या और किस काम का ?

कुछ दिन इसी बेचैनी में बीते। एक दिन उसने आईने में अपने चेहरे पर गौर किया। अरे, यह क्या ? उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। कहाँ गये, वह ललाई, वह रंग; अब तो जैसे हल्दी मल दी गई हो। बालों में लट, ललाट पर बल। भौहों की कमान—जिसका 'गुन' उतार लिया गया हो। आँखों के कोये सुर्ख, पुतलियों पर जैसी छाँव पड़ी हो। गालों के गुलाब—मुरझाये, सिकुड़े, सिमटे। क्या हो गई अधरों की वह हास्य-लालिमा ! अरे, यह क्या हो रहा है, हुआ जाता है ? चेहरे की यह हालत, और दिल की मत पूछिये ? मानो, एक दुनिया उजड़ी जा रही है। जहाँ बगीचा था, वहाँ बबूल का बन बनने जा रहा है ? बबूल का बन—जहाँ भौंरों के बदले भँम का राज—जहाँ फूल के बदले कांटों का दौरदौरा !

नहीं, नहीं, गलत चीज। उन्होंने जिस चीज से सावधान किया, वह उसी के चक्कर में पड़ गई। उनका समझाना-बुझाना, सब जैसे व्यर्थ हुआ, बर्बाद गया। वह भावना के संसार में भटक रही है, तड़प रही है। मृगमरीचिका की एक सृष्टि उसे दौड़ा-दौड़ा कर उसकी जान लेने पर तुली है। नहीं,

[नहीं, यह गलत चीज़ । अब उसे ठोस जमीन पर पैर रखना चाहिये, उसे ज़मीन को देखने, समझने और तदनुसार जीवन की धारा को परिवर्तित करने की कोशिश करनी चाहिए। प्रेम और वियोग का भी जीवन में स्थान है, किन्तु जीवन सिर्फ प्रेम और वियोग का नाम नहीं है; जीवन के साथ और भी कितने कर्त्तव्य बंधे हैं, जिनका कौशल के साथ सम्पन्न करना ही मानव जीवन की सफलता और सार्थकता है—ऐसा उन्होंने उस दिन बताया था। लेकिन, वह कैसी मूरख, कि उनके जाते ही उनकी बात भूल गई। उनकी याद में तो वह घुली जा रही है, किन्तु उनकी बातें वह भूली जा रही है—यह कैसा अजीब तमाशा ?

ठोस जमीन पर पैर रखना—यह उनकी आज्ञा थी, उनकी आज्ञा उसने सिर-आँखों पर ली। किन्तु, कुछ ही दिनों में जब उसे मालूम हुआ कि उसके पैर के नीचे जो जमीन है, वह कैसी पोली है, तब वह बहुत ही घबराई।

मध्यवित्त गृहस्थ परिवार के सभी वरदान और अभिशाप उसके इस नये संसार को घेरे हुए हैं। एक ऐसा घर—जो बाहर से चूने से पुता हुआ, चकमक करता; किन्तु, उस चूने के भीतर जो दीवाल है, उसमें नोनी ने घर कर लिया है, वह भीतर-ही भीतर खोखली हुई जा रही है। घर की यह छत, यह निवाड़, ओसारे के ये खम्भे—सभी सुघड़ और सुकाठ लकड़ी के। आज भी इन्हें रँगा गया है, इन्हें नया दिखाने की कोशिशें हुई हैं; किन्तु, इन्हें भीतर से जो घुन खाये जा रहा है, यह छिपाने से

भी तो नहीं छिप पाता। जो इमारत की हालत, वही घर की सारी चीजों की। दरवाजे पर पशु हैं, चरवाहे हैं, नौकर हैं, अन्न रखने की बखारियाँ हैं, पुआल के बड़े-बड़े टाल हैं, बड़े-बड़े भुसखार हैं। किन्तु, क्या यह सच नहीं कि साल लगते न लगते पशुओं को चारे की दिक्कत सताती है, नौकर मुशाहरा न मिलने से खिन्न और अन्यमनस्क रहते हैं, बखारियों की शून्यता को भरने के लिए लाख कोशिशें होती हैं, तोभी सफलता नहीं मिलती। सफलता हो तो कैसे ? – खलिहान से ही तो अन्न का प्रवाह चारों ओर तीव्र वेग से बहने लगता है ! जिस टंकी में छेद है उसे भरने के लिए आप लाख पम्प लगायें, वह रीता-का-रीता रहेगा।

टंकी में छेद – गृहस्थ को कर्ज। दोनों एक बात। हो सकता है, कभी आप का पम्प बिगड़ जाय, कभी आप पानी न दे सकें, भूल ही जायँ। किन्तु वह छेद तो अपना काम भूलेगा नहीं ? वह तो तब तक अपना काम जारी रखेगा, जब तक एक-एक बूँद पानी निकाल बाहर न कर दे। यही कर्ज की हालत है। आप सोये हुए हैं, और सूद आप के बिछावन के चारो ओर चक्कर दे रहा है ! आपकी खेती खराब हो सकती है, घर में कोई यज्ञ-प्रयोजन पड़ जा सकता है, आपकी आमदनी मारी जा सकती है, आपका खर्च बढ़ सकता है। आपके पारिवारिक जीवन में, तरह-तरह के कारणों से, ज्वार-भाटे आ सकते हैं। किन्तु, कर्ज पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ने का – वह तो अपनी निश्चित गति

से बढ़ा जा रहा है। सूद-दर-सूद—एक के दो, दो के चार, चार के सोलह, सोलह के एक सौ चौवालिस,— यह तो सिर्फ इसकी चार ही छलांग हुई, आगे की गणना कीजिये!

उसके पितामह—हाँ, 'उनके' पितामह भी तो 'उसके' पितामह ही हुए, अब तो 'उनका' एक-एक रिश्ता 'उसका' रिश्ता है—बड़े अच्छे गृहस्थ थे, किन्तु, बड़े उदार, दरियादिल। किसी की तकलीफ देखी नहीं जाती, किसी का कष्ट देख नहीं सकते। मुसीबतजदा जो माँगे, पावे। अपनी हैसियत का ख्याल नहीं रखते। कैंड़े के मर्द—मूँछ की शान पर जान भी देने को तैयार। कोई उन्हें आँख दिखा नहीं सकता। जिसका हाथ पकड़ लिया, कोई उस पर उँगुली उठा नहीं सकता। जिसने उनसे गुस्ताखी की, वह उसका कड़वा फल चखा। अपनी शान के सामने वे किसी को लगाते नहीं! पुराने जमाने के सामन्तों के सभी गुण। लेकिन, यह सामंती का तो युग तो रह नहीं गया था। जो कभी का गुण था, वही इस जमाने का अवगुण हुआ। अपनी जिन्दगी में उन्होंने बड़ा नाम कमाया, घर का रुतबा बढ़ाया, शान बढ़ाई, किन्तु, जिस घर को छोड़कर वे स्वर्ग सिधारे, वह घर ऐसा था, जो उनकी सन्तानों के लिए एक बोझ ही साबित हुआ।

उनके बड़े लड़के—'उसके' पिताजी ने घर को सम्हालने की कोशिशें कीं, वे बहुत कुछ सफल भी हो रहे थे, किन्तु, विधाता से देखा नहीं गया। सिर्फ एक बच्चा छोड़ कर, वह भरी जवानी में, अचानक ही, चल बसे। घर में जो अब चाचा वगैरह है, वे

सिर्फ लकीर पीटने वाले। वे इस दुर्वह बोझ को जैसे-तैसे ढोये जा रहे हैं, ढोये जा रहे हैं ! किस उम्मीद पर ? किस आशा में ?

हाँ, इधर आशा की एक झलक दीख पड़ी है – उस झलक के मूर्त रूप हैं, उसके 'वे' ! लोग कहते हैं उनकी सूरत-शकल, चेहरा-मोहरा, चाल-ढाल, शील-स्वभाव, बात-चीत सब कुछ उनके पितामह से मिलता जुलता है। होनहार बिरवा के चिकने पात की तरह, बचपन से ही उनकी प्रतिमा देखकर लोग मुग्ध हैं। इधर पढ़ने-लिखने में उनकी तेजी और तरक्की देखकर लोग कहने लगे हैं, उसके पितामह ने ही मानो घर की गिरती हालत देखकर उसके उद्धार के लिए, यह अवतार लिया है। इस घर का रोब फिर बढ़ेगा, इसके आसमान पर फिर शान-मान का सूरज चमकेगा। बाल-किरणें ही साबित करती हैं, दिन कैसा होने जा रहा है।

एक ओर जहाँ इस घर की हालत देख कर वह घबराई, वहाँ उसे इस कल्पना ने आनन्द भी कम नहीं दिया कि वह उनकी सौभाग्यशालिनी पत्नी है, जो इस नाव के पतवार हैं, जिनके ऊपर घर भर का भविष्य निर्भर है। वह अपने को उनकी योग्य अर्द्धांगिनी सिद्ध करेगी, उनके प्रयत्नों में अपना योग्य हिस्सा लेगी और अगर इतनी योग्यता अपने में न ला सकी, तो कम-से-कम उनके पथ के कांटों को चुनेगी, उस पर अपने स्नेह और भक्ति के फूल बिखेरेगी। प्राचीन वीरांगनाओं की सी उसमें

योग्यता कहाँ, जो पति के साथ-साथ, क़दम-ब-क़दम चलतीं, बढ़तीं;— रणक्षेत्र में उनकी ढाल और शिरस्त्राण बनतीं; कर्मक्षेत्र में उनकी प्रेरिका और संचालिका मानी जाती। हाँ, वह अपने को एक सच्ची गृहिणी बना सकती है, और यदि उसने इतना भी कर लिया, तो उसके सौभाग्य के लिए इतना ही कम नहीं। गृहिणी— क्या गृहिणी का पद ही न्यून है? क्या गृहस्थी की धुरी गृहिणी ही नहीं है? आप बाहर कितना भी कर-धर आइये, किन्तु, अगर घर में गृहिणी नहीं हुई, तो आप का सारा किया-कराया चौपट! उसके सामने कितने उदाहरण हैं कि अच्छी गृहिणी के अभाव में कितने घर चौपट हो गये! वह ऐसा नहीं होने देगी!

× × ×

'ऐसा नहीं होने देंगी!'—उसके कानों में भी यह आवाज आई। वह चकित हुई—उफ़, क्या तस्वीर के बदले वह तकरीर पर उतर आई है? लेकिन, नहीं, उसने मुड़कर देखा, तो पता चला, डब्बे के दो यात्री, इस भीड़भाड़ में भी बहस छेड़े हुए हैं! बहस का विषय है, शिक्षिता स्त्रियाँ! एक सज्जन पढ़ी-लिखी स्त्रियों पर अपने दिल का बुखार उतार रहे हैं। दूसरे सज्जन बड़े जोश से उनकी बातों को काट रहे हैं—"आपने जो कुछ कहा, वह मूर्ख नारियों के करतूत हैं। आप क्यों भूल जाते हैं कि जिस

तरह पढ़े लिखे मर्द मूर्ख होते हैं, उसी तरह शिक्षिता नारियाँ भी मूर्ख हो सकती हैं। किन्तु जो यथार्थ शिक्षित स्त्रियाँ हैं वे ऐसा नहीं करेंगी, ऐसा नहीं होने देंगी!" किन्तु, उसे बहस सुनने की फुर्सत कहाँ थी? वह अपनी तस्वीरों की दुनिया में फिर जा पहुँची।

९

वे आया करते, जाया करते। जब वे आते, उसकी जिन्दगी में एक ताजगी, उत्फुल्लता, प्रफुल्लता आ जाती। जब वे जाने लगते, एक उदासी, अन्यमनस्कता, विह्वलता उसके हृदय को ढँप लेती। किन्तु इस ताजगी और उदासी, उत्फुल्लता और अन्यमनस्कता, प्रफुल्लता और विह्वलता के बीच भी वह इस समतुलन को नहीं खोने देती, कि उसे एक योग्य पति की कार्यशील गृहिणी का पद प्राप्त करना है। धीरे-धीरे वे दिन में भी उससे प्रायः मिला करते; रात तो प्रेमी-प्रेमिका की होती ही है। जब दोनों एक साथ होते, वैसे ही विनोद की कलियाँ खिलतीं, आनन्द की चिड़ियें चहकतीं। रंगरलियों की सरिता में बाढ़ आतीं, सारा जीवन, सारा जगत रसमय हो जाता। लेकिन, इस बाढ़ के बीच भी उसे सीमा का ज्ञान रहता, मर्यादा का खयाल होता। ज्वार के बाद जब भाटा आता, उस समय वह मर्यादा का और भी खयाल रखती।

वह थोड़ी-सी पढ़ी-लिखी थी, किन्तु, उन्हें इतना ही से कहाँ सन्तोष? जो उनकी छुट्टियाँ होतीं, वे अब उसकी पढ़ाई की सीजन होतीं। बाजाप्ता क्लास ही समझिये। वह किताब-कापी लेकर बैठी है, वे अध्यापक की तरह उसे पढ़ा रहे हैं, लिखा रहे

हैं। गलतियाँ दुरुस्त कराई जा रही हैं, सही पर शाबासियाँ मिल रही हैं। लेकिन, अगर एक ही गलती को बार-बार दुहराया जाता है, तो झिड़कियाँ तक सहनी पड़ती हैं। कभी-कभी दो-एक मीठी चपत भी!

"और, रानी, अगर फिर भी गलती हुई, तो कनेठी मिलेगी"—हँस कर बोले।

"मास्टर साहब, गाल से कान ज्यादा सुकुमार नहीं होते"—उसने चुनौती दी।

"अच्छा, तो अब मजा चखोगी?"

"क्या आज तक के मजे से भी ज्यादा मजेदार होगा वह!"

"खैर, वकालत पीछे होगी, अभी पाठ की ओर ध्यान दो।"

"कोई सामने बैठकर जो बार-बार ध्यान तोड़े देता है!"

यों ही कभी-कभी काफी चुहलें हो जातीं।

उसने पढ़ने-लिखने में काफी उन्नति की। उसकी मेधा की वे तारीफ करते; कहते—तुम्हें यह पास कराऊंगा, वह पास कराऊंगा। वह कहतीं, नहीं, मुझे पास-फेल की दलदल में नहीं पड़ना है, आप पढ़ाये जाइये, मैं पढ़ती जाती हूँ। पास की जिम्मेवारी एक ही की रहे; आप पास करते जाइये, आगे बढ़ते जाइये; आप हाकिम बनिये, मैं हाकिम पर हुकूमत करूँगी। रानी, तू तो बड़ी बातूनी है—यह कहते, हँसते, कभी चपतियाते, कभी हृदय से लगाते। दिन भागे जाते, महीने भागे जाते, इसी हँसी-खुशी में कई बरस पीछे छूट गये, जब इसपर

ध्यान जाता, आश्चर्य होता। एक-दो-तीन—अरे, सचमुच हमें एक साथ रहते तीन बरस बीत गये !

यह तीसरा साल कितनी बड़ी खुशखबरी लेकर आया। उन्होंने बी० ए० किया, यूनिवर्सिटी में औव्वल आये। औव्वल लड़के को डिप्टीगरी तो आप-आप मिलती है, चारो ओर चर्चा होने लगी। जब वह शहर से आये, गाँव के क्या कहिये, अड़ोस-पड़ोस के लोगों ने बधाई पर बधाइयाँ दीं। उनके कुछ दोस्त भी आये। दिन भर दरवाज़े पर भीड़ लगी रहती, धूम मची रहती। घरवालों के आनन्द का तो कहना ही क्या ? बड़ी-बूढ़ियाँ उसके भाग्य की प्रशंसा करतीं—सुलक्षणी बहू इसी को कहते हैं। ननदें और देवर कहते,—"भौजी, भैया हाकिम होंगे, तुम शहर में जाओगी, हमें भी लिये चलोगी न!"

"मैं आप लोगों को छोड़ कर जाऊँगी ही नहीं"—उसके यह कहने पर वे खुश होते, बोलते—"हाँ भौजी, हमें छोड़ कर मत जाना। तुम रहोगी, तो भैया भी दौड़े-दौड़े आया करेंगे।"

"क्या आपके भैया मेरे ही लिए आते हैं ?"

"आते चाहे जिनके लिए हों, लेकिन ज्यादातर रहते तो तुम्हारे ही साथ हैं न"—उनके इस बाल-सुलभ व्यंग्य में वह कितना आनन्द अनुभव करती।

इन्हीं बधाई देने वालों में उसके नैहर से एक दिन एक आदमी आकर खबर दे गया, उसके बाबू जी आ रहे हैं। उसका कन्यादान दादी ने किया था, किन्तु, प्रचलित प्रथा से प्रभावित

उसके पिता शादी के बाद आज तक उसके यहाँ नहीं आये थे। किन्तु, इस असीम आनन्द ने उनकी मर्यादा की सीमा भी तोड़ दी। अपनी दुलारी बेटी का यह सौभाग्य देखने के सुख से अपने को वंचित करने की हिम्मत वे नहीं कर सके। वे आये, उनका अपूर्व आगत-स्वागत हुआ। कई दिन रहे, उसे और उसके घरवालों को कृतकृत्य करते रहे और चलते दिन उसके घरवालों से वचन लेकर गये कि हम दोनों को उनके यहाँ तुरंत भेजा जायगा।

आज भी उसे रोमाँच हो रहा है, उन दिनों की याद में जब वह 'उनके' साथ नैहर गई थी। यों तो दो तीन बार वह नैहर से हो आई थी, किन्तु, इस बार की बात निराली थी। भाई बुलाने आया था। आगे-आगे हाथी पर अपने प्यारे साले के साथ वे थे, पीछे-पीछे खरखरिया में आठ कहारों द्वारा ढो कर वह ले जाई जा रही थी। खरखरिया में ओहार लगा था, वह बिल्कुल पर्दानशीन महिला की तरह जा रही थी। कुछ ही देर पहले दोनों मिलकर चले थे, कुछ ही देर बाद दोनों फिर मिलेंगे, तो भी, न-जाने कौन-सा कुतूहल था कि जब उसे ऐसा लगता कि यह सुनसान और निर्जन स्थान है, जरा ओहार सरका कर वह देखने की कोशिश करती,—वे कहाँ हैं, कितनी दूर पर हैं? कितनी दूर पर हैं, कैसे लगते हैं! उसे कुछ ऐसा अनुभव होता कि अभी-अभी, पहले-पहल, उसने उन्हें देखा था, और पहली झलक के बाद ही वे जैसे उसकी आँखों के ओझल हो गये

हों। अपनी शादी की शाम को जैसी व्याकुलता का अनुभव उसे अपने आंगन में हुआ था, वही व्याकुलता आज वह इस भरी दुपहरिया में, नैहर के रास्ते में, इस ढाई हाथ की खरखरिया में अनुभव कर रही थी!

एक पखवारा वह नैहर में रही। दादी, मां, काकी गांव के बड़ी-बूढ़ी सब ने आशीर्वादों से उसे ढँप-सा दिया। जहां जाती, उसके सौभाग्य की प्रशंसा होती। जिस भावज ने उस दिन उसकी दिल्लगी की थी, वह तो जैसे कट-सी गई। "दुलारी-बबुई, माफ़ करना! मैंने तुम्हें साधारण दुलहन समझने की ग़लती की थी। तुम धन्य हो, तुम्हें पति भी वैसे ही मिले हैं। दोनों जीयो, खुश रहो, फलो-फूलो।" उनकी आवभगत का भी क्या पूछना? एक तो दामाद—प्यारा दामाद। फिर, असाधारण दामाद—जो दामाद अब हाकिम बनेगा। हाकिम!

जिसका नाम लेकर हम इज्जत पायेंगे, मुक़द्में जीतेंगे। 'हां, कौन हाकिम होगा, जो इस हाकिम दामाद का नाम सुनकर रियायत न करे"—यह बाबू जी नहीं कहते, गांव के साधारण लोग भी कहते। नामवर दामाद सब का दामाद होता है न?

नैहर से लौटने के बाद अब यह चर्चा शुरू हुई कि वे करेंगे क्या? क्या डिप्टीगरी लेंगे? लोगों की, सब की यही राय थी। किन्तु, उन्होंने नाहीं कर दी। उन्होंने कहा—नहीं, अभी मैं और पढ़ूंगा, एम० ए० तो कर लूँ, उसके साथ ही बी० एल० भी। फिर देखा जायगा? नौकरी क्या कहीं भागी जाती है? किन्तु

पढ़ाई छोड़ने पर फिर उसकी ओर ध्यान कहां जाता है ? लोगों को उनका यह तर्क पसंद नहीं था। घरवाले और भी उकताये हुए थे। वे चाहते थे, जल्द नौकरी लगे, कुछ बाहरी आमदनी आये, कर्ज से छुटकारा हो, कारबार और बढ़े, बढ़ाया जाय। जब उन लोगों की बात पर उन्होंने नहीं कान किया, तब उसपर जोर डाला गया कि वह उनसे कहे। घरवालों से छिपा नहीं था कि वे उसे कितना प्यार करते, कितना मानते। उसने उन लोगों से कह तो दिया कि वह कहेगी; किन्तु, क्या उसने कभी इसकी चर्चा उनसे की ? वह तो उनकी बुद्धिमानी पर इस तरह फिदा थी कि उनकी हर बात में हां करना, उनके हर बात में स्वीकृति देना अपना कर्तव्य समझने लगी थी। जो वे कहते हैं बिल्कुल सही और दुरुस्त कहते हैं। नौकरी कहां भागी जा रही है ? उनकी उम्र ही क्या हुई है ? घरवाले स्वार्थ में अंधे हो रहे हैं—स्वार्थ दूर कहाँ देखता है ? नजदीक की चीज भी क्या वह सही-सही देख पाता है ? नहीं, नहीं, अगर वे चाह रहे हैं, तो उन्हें पढ़ना चाहिये। एक दिन, घर से जाने के पहले, उन्होंने ही उससे पूछा—"तुमने नहीं बताया, रानी, कि तुम्हारी क्या राय है ?" "जो आपकी राय, वही मेरी—" वह इतना कह कर ही पिंड छुड़ाना चाहती थी, किन्तु, उन्होंने माना नहीं। बात बढ़ाई, और तर्क और युक्ति से उसके दिल में बिठा दिया कि उसकी, अपनी और अपने घर-वालों की भलाई की दृष्टि से भी उनके लिए यही उचित है कि वे पढ़ाई जारी रखें।

हँसी-खुशी में वे आगे अध्ययन के लिए घर से चले। घरवालों ने चातक की तरह उनकी ओर देखना शुरू किया। ईमान की बात है, वह भी उनके भविष्य को जल्द-से-जल्द सफल और सुफल देखने के लिए कम उत्सुक नहीं थी। किन्तु, उसके घरवाले क्या जानते थे कि जिस बादल की ओर वे पपीहा की तरह ध्यान लगाये हुए हैं, वहां स्वाती-बूँद के बदले कुछ दूसरी ही चीज की सृष्टि हो रही है? वह भी क्या जानती थी कि जिस वृक्ष की डाल की ओर फल की आशा में वह एकटक आखें गड़ाए हुई है, वहां नियति कुछ दूसरा ही फल रच रही है! वह चकित, स्तम्भित रह गई; घरवाले विह्वल, मूर्च्छित हो गये; सभी हित-कुटुम्ब, मित्र-बांधव भौंचक से रह गये—जब उन्होंने ......

× × ×

बाहर इस समय थोड़ी वर्षा होने लगी थी। जो थोड़ा-सा बादल उसने क्षिजित पर देखा था, उसने समूचे आसमान को ढँप लिया था। बिजली चमकने लगी थी, हवा जोर से चल रही थी, पानी की बूँदों के साथ-ही-साथ छोटे-छोटे ओले गिर कर गाड़ी के मुरेड़े और खिड़कियों पर शब्द कर रहे थे। एक यात्री ने कहा, रब्बी चौपट हुई, दूसरे ने कहा, आम का सफाया हो गया—यह बिजली; अब तो बौर में आम लग नहीं सकता? क्या उस दिन भी इसी तरह की बातें उसके घर-बाहर नहीं कही गई थीं? उस दिन का वह दृश्य—उफ़ कैसा करुण चित्र!

१०

हां, वह तूफान ही था, जो अपने सभी साधनों से लैस होकर आया था,—बादल, बिजली, ओले, क्या-क्या नहीं ? वह तूफान—जिसने उसकी हरी-भरी, लहलही खेती को रौंद डाला, मसल डाला, कुचल डाला; जिसने उसकी बौर-भरी डाली को, झकझोर डाला, मरोड़ डाला, तोड़ डाला; जिसने उसके प्राचीन प्रतिष्ठित घर की दीवाल दरका दी, छत उड़ा दी, घरवालों को बेभरम और बरबाद कर डाला; जिसने उसके आशा भरी, उल्लासमयी जिन्दगी को, किस बुरी घड़ी में, जमीन से अलग कर दिया कि वह आज तक तुच्छ तिनके की तरह यहां-से-वहां इधर-से-उधर, मारी-मारी फिर रही है ! कई बार उसने कोशिश की, कई बार उन्होंने कोशिश की, जरा ठोस जमीन पर उतरा जाय, घर बने, खेती हो, बगीचे लगे, किन्तु आज तक न हुआ, न हुआ ! बार-बार जमीन पैर के नीचे से खिसक जाती रही, हवा का महल हवा में मिल जाता रहा और क्या आसमान की खेती जमीन पर फूल बरसाती और फल टपकाती है ?

उसको अच्छी तरह याद है उस दिन की एक-एक बात ! उनके चाचाजी आंगन में आये, रोनी-सी सूरत बनाये और उन्होंने जब दुस्सम्बाद की घोषणा की, समूचे घर पर मुर्दनी-सी

छा गई। जितनी ही बड़ी आशा बँधी थी, उतनी ही बड़ी यह निराशा की खबर थी। मानों स्वर्ग पहुँचते-पहुँचते त्रिशंकु जमीन पर ढकेल दिया गया हो और वह औंधे सिर नीचे आ पड़ा हो। त्रिशंकु के लिए कम-से-कम यह तो ग़नीमत हुई कि वह अधर में ही लटका रह गया, इस पृथ्वी के लांछन, अपमान और अभिशाप देखने को नहीं लौटा। किन्तु, यहाँ तो स्वर्ग से सिर्फ पृथ्वी तक ही रहने की बात नहीं थी, पैर के नीचे की जमीन भी धसी जा रही थी—नरक की भट्ठी मुँह खोले लीलने को तैयार थी! अरे, यह क्या हुआ? अभी कुछ दिन हुए, वे गये थे—क्या-क्या कह कर, क्या-क्या अरमान लिए हुए, लोगों को क्या-क्या सुख-स्वप्न दिखला कर? और, अचानक उन्होंने यह क्या कर लिया? चाचाजी अपनी आँखों के आँसू तक नहीं रोक सके। जहाँ उनकी आँखों में बूँदें थीं, वहाँ घर की औरतें खारे पानी के झरने बहाते जा रही थीं। हाँ, बोली किसी के मुँह से नहीं निकल रही! भावनाओं का ज्वार जबान पर ताले डाल देता है न?

और, उस समय उसकी अपनी हालत कैसी हो रही थी? काटो तो खून नहीं। हृदय में तूफान, दिमाग़ में धुआँ; नसों में खून की जगह बिजली की धारा दौड़ रही। वह थोड़ी देर अपने घर के दरवाज़े पर, किवाड़ की आड़ में खड़ी, सब का मुँह देखती रही, फिर, जैसे उसके पैर आप ही आप उखड़ गये, वह धम्म से पलंग पर आकर गिर पड़ी औंधे मुँह, मुँह के बल।

क्या वह रो रही थी ? क्या वह सो रही थी ? उसे मालूम नहीं, कब तक इसी तरह पड़ी रही कि, उसने पाया, उसका देवर—वही, जो सामने बैठा है, उस समय छोटा बच्चा, प्यारा, दुलारा, भला, भोलाभाला—उसे जगाने, उठाने की कोशिश कर रहा है ! और अपने प्रयत्न में असफल होता, कुछ झुँझला रहा, झल्ला रहा, उकता रहा, बेचैन हो रहा—

"भौजी, ओ भौजी, उठती नहीं, सो रही हो, ओह, रो रही हो, रोओ नहीं, ऊंह, यह क्या, अरी, ओ उठो, लो, लो, यह लो, भैया ने तुम्हारे लिए चिट्ठी भेजी है, भैया ने, तुम्हारे लिए, चिट्ठी, चिट्ठी !"

"चिट्ठी—चिट्ठी, भैया ने"—शायद वह चिल्ला उठी थी। झपट कर उठी, उस रुआँ-सा बच्चे से चिट्ठी ली और जब खोल-कर पढ़ने बैठी·········

शायद तीन बरसों से जान धुन कर इसीलिए पढ़ाया जा रहा था, कि वह उनकी इस चिट्ठी को पढ़ सके, समझ सके—यह चिट्ठी थी, या जिन्दगी भर की तकलीफों का दमामी पट्टा था ! पढ़ पगली, पढ़—एकबार पढ़, दो बार पढ़, फिर पढ़, पढ़ ले, जब तक इसके एक-एक शब्द याद नहीं हो जाय—

"रानी, मेरी रानी, मेरी प्यारी रानी,

"तुम्हारे पास यह चिट्ठी भेजते मेरे हृदय और दिमाग की क्या हालत हो रही है, क्या तुम कुछ भी अनुभव कर सकती हो ? तुम्हें यह चिट्ठी लिखू या नहीं; लिखूं तो क्या लिखूं, कैसे

लिखूं; आदि तर्क-वितर्क के बाद कागज़-कलम लेकर बैठा भी हूं, तो कागज ठीक से रख नहीं पाता, क़लम ठीक से पकड़ में नहीं आती, हाथ ठीक से काम नहीं करता, दिमाग जवाब देने लगता है, हृदय एक अज्ञात बोझ से दबा जाता है। भावनाओं की इस धमाचौकड़ी में बेचारी बुद्धि काम कर नहीं पाती, ज्ञान कहाँ उड़ा जाता है। जरूर ही इस चिट्ठी के पहले तुमने खबर सुन ली होगी—खबर बेपर की चिड़िया, अपनी रफ्तार में डाक, तार सब को पीछे छोड़ देती है। वह किसी-न-किसी तरह इस चिट्ठी से पहले पहुँच ही चुकी होगी। और, उस खबर के बाद जब कल्पना करता हूँ........

"तुम्हारी क्या हालत हुई होगी? मानो किसी ने आसमान से नीचे पटक दिया हो; मानो किसी ने पैर के नीचे की जमीन छीन ली हो! तुम खड़ी हो—देख रहा हूँ, तुम खड़ी हो, विषण्ण बदन, अँचल नीचे खिसक पड़ी है, बाल की कुछ लटें आप से आप बिखर कर अकाल-बादल-सा तुम्हारे चन्द्रमुख को ढँकने की कोशिशें कर रही हैं, ललाट पर पसीने की बूँदें, आँखों में खारे पानी का समुद्र। होंठ हिल रहे, किन्तु, मुँह से आवाज़ नहीं। खिले कमल-से चेहरे पर मानो अचानक तुषारपात हुआ हो। और यह क्या? तुम्हारा समूचा शरीर हिल रहा है—ज्वर ग्रस्त कपिला गाय की तरह। तुम अपने को सम्हाल नहीं पाती, बेहोश हुई जाती हो, आखिर वही ....

"तुम बेहोश पड़ी , उस निर्जन, एकाकी गृह में। क्योंकि घर के और लोगों की भी मनोदशा ऐसी नहीं कि कोई किसी को धैर्य दे सके। समूचे घर में शोक का राज्य है। बड़े-बूढ़े, औरत, मर्द, बच्चे सब पर उदासी की घनघोर घटा छाई है। यह मैंने क्या किया ? क्या मेरे लिए यही उचित था ? क्या यह धोखा नहीं है ?—घरवालों को धोखा, जिन्होंने इतने रुपये खर्च कर के मुझे पढ़ाया-लिखाया, मुझ पर इतनी उम्मीदें बांधी। सब से बढ़ कर रानी—तुमको धोखा ? हाँ, जरूर तुम मुझे धोखेबाज समझती होगी। सोचती होगी, ऐसा निर्णय पर पहुँचने के पहले वह जरा मुझ से पूछ भी तो लिये होते ·······

"सच कहता हूं, रानी, जब-जब तुम्हारे चेहरे और घरवालों की मनोदशा की ओर ध्यान देता हूं, मालूम होता है, मैंने गलती की है, अपराध किया है। यह उचित नहीं था। शायद जल्दबाजी तो मुझ से नहीं हो गई ········

"किन्तु, उसी क्षण एक बुढ़िये का चेहरा मेरे मानस-नेत्रों के सामने आकर प्रतिबिम्बित हो जाता है। एक वृद्धा—जर्जर वृद्धा। गलित पलित अंग, झुर्रियों से भरे उसके चेहरे को आँखों की गंगा-जमुना सिर्फ धोना नहीं चाहती, बहा डालना चाहती है। अस्त-व्यस्त उज्वल बाल, गले में हिचकियों का ताँता। किस करुण दृष्टि से वह मेरी ओर ताक रही है ! क्या उस दृष्टि में सिर्फ करुणा ही है ? करुणा-मात्र रहती, तो सहानुभूति की दो बूँदें बहा-कर सन्तोष कर लिया जाता। इस दृष्टि में तो उपालम्भ है,

उलहना है, ताना है। बेटा, क्या यह मेरी गत तुम्हें देखी जाती है? तुम्हारे अछत मेरा यह हाल? बेटे के सामने माँ लूटी जा रही हो, अपमानित की जा रही हो, और वह टुकुर-टुकुर देखा करे? क्या यह कभी सम्भव है? अभी तक मेरी गत इसलिए थी कि शायद तुम्हारी नज़र मेरी ओर नहीं थी। किन्तु, जब तुम सामने हो, तुम्हारे सामने यह सब हो? नहीं नहीं, ऐसा हो नहीं सकता—मेरे बेटे! ……

"उफ़, रानी, मेरी रानी, बताओ, मैं कैसे उसे इस दशा में छोड़ूँ? तुम्हारे सामने, तुम्हारी मैया पर ऐसी मुसीबत आये और वे आकर तुमसे विपदा सुनायें, तो, तुम स्त्री हुई तो क्या, तेजस्विनी रानी, मुझे यकीन है, तुम अपनी सारी स्थिति, मर्यादा छोड़कर उनकी मदद में जान पर खेल जाओ। मैं तो पुरुष ठहरा। ऐसी पुकार पर भी जिसका हृदय न पसीजे, न उद्वेलित हो, मैं समझता हूँ, वह पुरुष की क्या बात, मनुष्य भी नहीं। उसे पुरुष या मनुष्य कहना मनुष्यता और पौरुष का अपमान करना है ……

"कहोगी, वृद्धा कौन है? कहाँ से आकर मेरे सामने यह अचानक खड़ी हो गई? बिना किसी बड़ी भूमिका के सुना दूँ। वह सिर्फ मेरी नहीं, हमारी तुम्हारी सब की माता, हमारी देश-माता, भारतमाता है। कभी इसके भी दिन थे, कभी इसकी भी शान थी। जब इसके मस्तक के रत्न-किरीट के प्रकाश से संसार प्रकाशित था, जब इसके पद पर संसार रत्नांजलि अर्पित करता

था। आज वह भिखारिणी है। सिर्फ भिखारिणी ही नहीं—बंदिनी ! अब तक चेहरा ही देख रही थी तुम, अब जरा उसके पैर की ओर देखो, हाथ की ओर देखो। देखो, वे लोहे की जंजीरें, वे वज्र-शृङ्खलायें.....

"रानी, रानी, हमें धिक्कार है, जो अपनी माँ को इस स्थिति में छोड़कर हम स्वयं आमोद-प्रमोद, सुख-चैन में मस्त और व्यस्त रहें। अब तक हमारी आंखों में पट्टी बँधी थी, हम अपनी माँ को देख नहीं पाते थे, उसकी करुण कराह सुन नहीं पाते थे। धन्य कहो, धन्य कहो, उस महात्मा को, जिसने हमारी यह पट्टी खोल दी है। और जब वह पट्टी खुल गई, तो फिर हम पट्टी-बँधे बैल की तरह अपने सुख-चैन के कोल्हू में चक्कर काटते हुए, इस अमूल्य मानव जीवन को बर्बाद नहीं कर सकते......

"यह कहना भी फिजूल है कि तुम मुझे प्यारी हो, रानी, तुम्हारा हृदय ही साक्षी होगा, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। तुम्हारे सुख के लिए, तुम्हें आराम और चैन में रखने के लिए, मैं सब कुछ कर सकता हूँ। किन्तु, मैं समझता हूँ, जैसी स्थिति आ गई है, तुम भी चाहोगी कि पहले मैं इस मातृ-ऋण से उऋण हो लूँ। जब तक सिर पर ऋण का बोझ है, आदमी पनप नहीं सकता—हमारा अपना घर इसका उदाहरण है। क्या यह अच्छा नहीं कि तुम्हारे साथ जिन्दगी-भर का अपना प्रेम-ऋण चुकाने के पहले, इस ऋण से मुक्त हो लूँ ? तुम ने सुना ही होगा, सिर्फ एक वर्ष की बात है ? उस महात्मा ने कहा है—बस.

मेरी बातें मानो, एक वर्ष में स्वराज्य लेकर दिखला देता हूँ······

"सिर्फ एक वर्ष—फिर तो अपनी दुनिया—हमारी-तुम्हारी दुनिया है ही ! माता बंधन मुक्त होगी। देश आज़ाद होगा। एक नया समाँ होगा। एक नया संसार होगा। हम नये संसार में रहेंगे। हमारा परिवार होगा, हम होंगे; स्वच्छंद विचरेंगे, सानन्द—ओहो ! कैसे वे दिन होंगे, कैसी वे रातें होंगी—कल्पना करो रानी......

"मेरी रानी, घरवाले इस खबर से बहुत ही व्याकुल होंगे। इन तीन साढ़े-तीन वर्षों में तुमको तो ऐसा बना भी लिया है, कि तुम्हें समझा सकूँ। किन्तु उन्हें—उन्हें कैसे समझाऊँ, समझ में नहीं आता। इसलिए, चाचा जी को सिर्फ एक छोटा-सा क्षमा का पत्र लिख दिया है। अब यह तुम्हारा काम है कि मेरी ओर से उन्हें सन्तोष और धैर्य दो। घर की स्त्रियों के मन को अगर तुमने ठीक कर लिया, तो फिर बाहर तो आप-आप सब दुरुस्त होगा। रानी, तुम्हें स्वयं ही धैर्य नहीं रखना है, तुम्हें मेरी मदद भी करनी है, खास कर इस काम में......

"मैं चाहता था, आऊँ, तुमसे मिल कर समझा दूँ, घरवालों को भी धैर्य दे लूँ; किन्तु, एक तो इस समय शायद सिर्फ समझाने-बुझाने से काम नहीं चलने का। नया घाव है, गहरा घाव है; ताजा चोट है, मतिष्क में पीड़ा है। इसे समय का मरहम ही भर सकता है। अतः, कुछ दिन के बाद ही आने का सोच रहा हूँ। फिर, काम की जो भीड़ है, उसकी कल्पना भी तुम नहीं कर

सकती ! तुम यह न समझो, पढ़ने-लिखने से फुर्सत पाकर मैं सैर-सपाटे में मस्त होऊँगा। ठीक इसके विपरीत बात है, रानी। समझो, मैंने अपने को एक तूफान के बीच में डाल दिया है—चारों ओर हूहू-हाहा, कहीं घर उजड़ रहे हैं, कहीं पेड़ गिर रहे हैं, गर्द-गुबार से वायुमंडल व्याप्त है, एक झोंका उधर पटक देता है, दूसरा झोंका फिर इधर घसीट लाता है—और इन सब के बीच अपने रास्ते पर बढ़े चलना है ! हमारी सफलता इसी पर निर्भर करती है कि इस हंगामे में भी हम कहाँ तक अपनी राह को अच्छी तरह देख सकते हैं, उसपर दृढ़ता से बढ़ सकते हैं······

"अतएव, मेरी प्यारी रानी, तुम क्षमा करना। आने में विलम्ब हो, तो घबराना नहीं। मेरे लिए चिन्ता तो मुतलक नहीं करना। तुम्हारा प्रेम मेरे लिए हमेशा ढाल का काम करेगा, उसकी छाँव में मैं हमेशा निश्चिन्त सोऊँगा। हाँ, मुझे घरवालों के लिए थोड़ी चिन्ता है। सो देखना—देखना, ओ मेरी प्राणों से भी प्यारी रानी......"

हाँ, यों ही तो उनका वह पत्र था। यह तो आश्वासन का एक अजीब तरीका था। जिसे सबसे ज्यादा आश्वासन की जरूरत थी, उसी पर यह बोझ डाला गया, कि वह दूसरों को आश्वासन दे। यह क्या कोई न्याय था ? किन्तु, क्या उसके लिए यह कर्तव्य नहीं कि उनके वचन का पालन करे ? उसने धीरे-धीरे अपने मन को शान्त किया और उनके बाद उनकी ओर से वह धीरे धीरे)

घर की स्त्रियों से वकालत भी करने लगी। समझाती, बुझाती, धैर्य देती, ढाढस बँधाती। उसने देखा, वह कुछ सफल भी हो रही है कि एक नई खबर आई—वे गिरफ्तार होगये ! और तूफान का यह झोंका इतना बड़ा, इतना प्रबल था कि अब उसके लिए भी सम्भव न था कि वह खड़ी रह सके। वह गिरी और उठी उसी दिन, जब उसने देखा, वे आकर उसे उठा रहे हैं.......

× × ×

तेजी से भागी जाने वाली गाड़ी अब एक स्टेशन पर खड़ी है। लोग उतर रहे हैं। अधिकांश लोग उतर गये। उसका देवर उसे ध्यान मग्न देख, उसके नजदीक आकर कह रहा है—"भौजी, उठिये न, बिस्तरा बिछा दूँ। जरा लेट जाइये। बड़ी भीड़ थी। जरा कमर तो सीधी कर लीजिये।" वह चौंक कर उठी। बिस्तरा बिछाया गया। बच्ची को गोद में चिपका कर वह लेट गई। आँखें बंद कीं। आख बन्द थीं, किन्तु, वह देख रही थी !

११

वह पड़ी हुई है, वह उसे उठा रहे हैं, मना रहे हैं। न-जाने क्यों, उस दिन एक अजीब मान उसके दिल में पैदा हुआ। जो मान पहली रात में, पहली मुलाक़ात में न-जाने कहाँ सोया पड़ा था, इन तीन-चार वर्षों के विवाहित जीवन में जिस मान की छाया भी उसने नहीं देखी थी, वही मान उसके हृदय पर अधिकार कर बैठा—उस दिन, जब कि एक वर्ष की जुदाई के बाद वे उसके घर में आकर खड़े थे। वे, उन्हीं के शब्दों में, तपोभूमि से लौटे थे। घर वालों ने आँसू के हार से स्वागत किया, परिजन-पुरजन ने आरती और माला से अभिनन्दन किया। उसके दरवाज़े पर भीड़ लग गई। वे मानव होकर भी मानवोत्तर हो चुके थे। उनके त्याग और तपस्या की चर्चायें हो रही थीं। एक कोलाहल-सा मचा था। इस भीड़भाड़ से निबट कर, जब वह आँगन में आये और बड़ी-बूढ़ियों से आशीर्वाद पाने लगे, उसके मन में न जाने क्यों एक अजीब भावना पैदा हुई।—मैं कौन होती हूँ उनकी? उन्हें मेरी क्या परवाह? मुझे अथाह सागर में छोड़कर कैसे वे तैरते बढ़ गये। आज लौटे हैं, देवता होकर। गले में मालायें पड़ रही हैं, कपूर की आरतियाँ हो रही हैं। भगवान के नये नये भक्त हैं; मैं कौन होती हूँ भला? मेरे घर आ रहे हैं, एक लोकलाज निबाहने। अगर मेरी ज़रा भी

चिन्ता होती, तो, यों मुझे भूलकर, तपस्या में लीन हो जाते! मैं अबला, मैं नारी। नारी तो तप-भंग की सामग्री है न? तपस्वियों को नारी से अलग ही रहना चाहिये। मैं क्यों उनके तप में आड़े आऊँ? मन, चल, दूर हट·········

यों ही अंट-संट कहती, वह पलंग पर जा लेटी। आँचल से मुँह को ढँप लिया। आँचल का कोर यों दाब दिया, कि चेष्टा करने पर ही मुँह उघाड़ा जाय। वे घर में घुसे। उनकी पग-ध्वनि उसने सुनी, पहचानी। उन्हें कितना आश्चर्य हुआ होगा, यह देखकर? शायद उन्होंने सोचा होगा, रानी, किवाड़ की ओट खड़ी प्रतीक्षा कर रही होगी। ज्योंही पहुँचूँगा, या तो लिपट रहेगी, या पैरों पर पड़ जायगी। किन्तु, यह क्या? यह तो पड़ी हुई है! वह धीरे-धीरे पलंग के निकट आये, पुकारा—रानी, रानी! किन्तु, रानी सोई थी क्या, जो आवाज सुनकर जग जाय? वे पलंग से सट गये, एक पैर पलंग के ऊपर रखा और हाथ आँचल की ओर बढ़ाया। बढ़ाते हुए बोले—"समझा, रानी, समझा! तू नाराज है मुझपर। वाजिब ही है तेरी नाराजी। मैंने अपराध किया। किन्तु, इस समय माफी माँगने की भी सुध नहीं है, पगली। आ, उठ, पहले तुझे हृदय से लगा लूँ। देख तो, यह मेरा दिल, तुमसे मिलने को कैसा अकुला रहा है—धड़धड़ किये हुए है।" उन्होंने उसका हाथ खींचा और उसे घसीट कर अपनी छाती पर ले गये। उसका हाथ उनकी छाती पर; उनका मुँह उसके आँचल पर!

उच्छ्वास की गरमी, चुम्बन की बिजली । उसका मान पानी-पानी हो रहा । आँचल न जाने कहाँ, विलीन हो चली । उसने पाया, वह उठाई जाकर उनकी गोद में है ।

जब आँखों का ज्वार-भाटा ख़तम हुआ, उसने उनके मुँह की ओर देखा । अरे, यह क्या ? वे इतने दुबले ? ललाट पर शिकन, आँखों के गोलक धँसे, गाल पुचक गये, नाक कुछ अधिक उभड़ आई है,—अरे यह क्या ? वह आँख फाड़-फाड़ कर देख रही थी,—चकित, विस्मित, भयभीत ! और, वे मुस्कुरा रहे !

"क्यों रानी, क्यों ? मैं दुबला हूँ यही न ? तो, यह कौन-सी बात है भला ? जहाँ चार दिन तुम्हारे हाथ से खाया, और चार दिन तुम्हारे रहा—फिर, वही मुटाई, वही ललाई । रंग रँग भी तो देता है ? क्यों ?" वह चुप थी और वे आँखों से मुस्कराते और होठों से अमृत की वर्षा किये जाते थे। जब कुछ देर के बाद वह कुछ सुस्त हुई, बोली—

"तपस्वी को नारी से अलग ही रहना चाहिये, तपभ्रष्ट मत हूजिये ।"

उन्होंने कहा—"ओहो, अब समझा ? यह मान नहीं था, मेरा कल्याण था, जो मेरी रानी को यों यहाँ सुलाये हुए था ! वाह री मेरी रानी !" बात जारी रखते हुए उन्होंने आगे कहा—"किन्तु, रानी, यह विश्वामित्र की तपोभूमि नहीं है; यह तो

जानकी का केलि-मन्दिर है, जहाँ की ध्यान-धारणा, असन-आसन सब कुछ दूसरा ही है !" और इसके बाद……

उफ़, पिछला वर्ष कैसा बीता था। ध्रुवदेश में छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है, सुनते हैं। किन्तु, यहाँ तो यह एक पूरा वर्ष उसके लिए रात-ही-रात रहा है। रात — अमावस्या की रात, अमावस्या भादो की। चारों ओर अंधकार ही अंधकार। बिजली कौंधकर प्रकाश नहीं देती, अंधकार की भयानकता को और बढ़ाती है। आसमान में एक तारे तक के दर्शन नहीं—बादल छाया हुआ। रात भर टिप-टिप, टिप-टिप,—खुलके बरसे तो जी कुछ हलका भी हो जाय। अजीब ऊमस। उफ़, री, वह काली, भयानक, भयावह रात। और, आज की रात—ऐसी रात सब सुहागिन की हो; दिन न हो, रात ही रात। इस एक ही रात में जैसे उन्होंने जादू फेर कर बारह महीनों की अनगिनत रातों की व्यथा को, न-जाने किस तरह, हवा कर दिया। दूसरे दिन जब वह उठी, उसकी आँखों में नई रोशनी थी, उसके पैरों में पुराना बल था; आईने में देखा, गालों पर गुलाबी दौड़ गयी थी, होंठों पर ईंगुर मुस्कुरा रहा था और आँखों की पुतली कठपुतली-सी ता-थेई नृत्य कर रही थी !

दिन में उन्हें भी उसने ग़ौर से देखा। वे दुबले हो गये थे जरूर—लेकिन, समूचे शरीर से एक ज्योति-सी निकलती। कभी-कभी उसे ऐसा लगता—जैसा कि उसने देवताओं के मुखड़ों के चित्र में देखा था —उनके मुँह से ज्योतिःस्फुलिंग निकल कर एक

वृत्त बनाये हुए है। वह वृत्त क्रमशः फैलता जाता है। उस वृत्त के भीतर उनका चेहरा कैसा अपूर्व मालूम होता! वह कई बार उसे देखती ही रह जाती—आत्मविस्मृत, आत्म-विभोर! उसे इस तरह निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए देखकर उन्होंने कई बार पूछा भी,—"यह क्या है रानी, यों घूर क्यों रही हो? मैं दुबला हूँ, यही न?" कहकर मुस्कुरा पड़ते। वह बोलती क्या भला, होठों का जवाब होंठों से ही देने की चेष्टा भर करती।

थोड़े ही दिन वे रहने पाये थे कि एक दिन शहर से कुछ 'बड़े-बड़े' लोग उसके दरवाजे पर आ पहुँचे और उन्होंने खबर दी—वे उन्हीं के साथ जा रहे हैं। जा रहे हैं? क्यों, कहाँ? क्या एक वर्ष की तपस्या पूरी नहीं हुई? अब फिर पढ़ना है, घर देखना है। डिप्टीगरी न कीजिये, वकालत ही सही। वही पढ़िये, दो वर्ष क्या चीज है? किन्तु, उन्होंने इन बातों का जवाब हँसी में उड़ाना चाहा। पर, उनकी मानिनी रानी माने तो। उसने जिद की—"मैं आपको नहीं जाने देती; मैं नहीं जाने दूँगी। पहले मुझे बता दीजिये, आप क्या करना चाहते हैं, कहाँ जाना चाहते हैं? एक बार मैं धोखा खा चुकी, मैं अब आपको नहीं छोड़ती।" शब्द ही नहीं थे, एक-एक शब्द के साथ आँसुओं की शत-शत बूँदें भी थीं। वे तैयार होकर उससे मिलने आये थे। टोपी उतार कर उसके हाथों में रख दी और कहा—अच्छा, आज नहीं जाता। जब तेरी आज्ञा होगी, तभी जाऊगा, जैसी तेरी मर्जी। दरवाजे पर गये, उन लोगों को, न जाने क्या कहकर,

विदा किया और लौटे। तब तक वह खड़ी थी, उनकी उस उजली गांधी-टोपी को हाथ में रखे, उसे देखती, उसे अश्रुओं से अभिषिक्त करती। आते ही बोले—"हुआ न, मैं हारा, तू जीती !"

हाँ, सचमुच यह उसकी विजय थी। ऐसी विजय—जिसपर घरवालों को ही आश्चर्य नहीं हुआ, उसे स्वयं भी आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ा। किन्तु, उसकी यह विजय कितनी महँगी है, उसने तुरत अनुभव किया। उनका चेहरा लटक रहा—श्रीहीन, विषएण। कहाँ गया उनके मुँह का ज्योति-वृत्त ? और आँखों में यह क्या उमड़-घुमड़ रहा है ? पानी नहीं सही, बूँदें न गिरें, सावन का सजल बादल तो यह है ही। तो क्या, उससे कोई अपराध बन पड़ा ? कोई ऐसा काम किया उसने, जिससे उनके हृदय को ठेस पहुँची है ? वे चाहते, तो उसकी अवज्ञा कर सकते थे ? किन्तु, ऐसा नहीं किया। उन्होंने उसका मान रखा, जिद रखी। उन 'बड़े लोगों' ने मन-ही-मन क्या कहा होगा ? बड़े देशभक्त बने थे, बीबी ने जरा टोक दिया, बस, सारी देशभक्ति हवा हो गई ? शायद इस अपमान के बोध ने ही उनकी आँखों में इन बादलों की सृष्टि की है ? उहुँ, उसने गलती की है, नादानी की है, उससे अपराध हो पड़ा है, अक्षम्य अपराध ! एक तरफ वे हैं, जो उसकी जिद की भी कद्र करते हैं, एक तरफ वह है, जो उनकी प्रतिष्ठा की ओर भी ध्यान नहीं रखती ?

वे खड़े थे, उनके हाथ उनके बालों से खेलवाड़ कर रहे थे। उसने उनके मुँह की ओर देखा। सहसा उनके होठों पर एक मुस्कुराहट खेल गई ! उसके समझने में धोखा नहीं हुआ कि यह

उत्फुल्ल-प्राय कलिका की चटक नहीं है, बल्कि अपने बोझ से व्याकुल बनी मेघमाला की तड़प है ! मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा—"चलो, कुछ गप हो; खड़ी कब तक रहोगी ।"

"क्या आपके साथी चले गये ?"—उसने पूछा और जवाब की प्रतीक्षा किये बिना ही बोल उठी—"आप जाइये, जब वे बुलाने आये हैं, तो आपका नहीं जाना मुनासिब नहीं ।" वे चकित होकर देख रहे थे । उसने फिर कहा—"मुझसे अपराध बन पड़ा था ! मैं नारी, गँवारी—यदि दूर तक नहीं देख सकूँ, तो मेरा क्या कुसूर ? आपको क्षमा कर देना चाहिये ।" इतना कहते-कहते, उसकी हिचकियाँ आ गई थीं, उसे आज भी अच्छी तरह याद है । फिर क्या था, उनके आँखों के बादल भी बरस पड़े । किन्तु, यह उसके कर्तव्य-ज्ञान पर बहे हुए प्रसन्नता के आँसू थे या उसके अपार मानसिक पीड़ा पर बहे हुए सहानुभूति के आँसू—यह कौन बताये ?

उसे घसीट कर वह पलंग पर ले गये । बिठाया, बैठी । बहुत कुछ कहना चाहते थे, कह न सके । कहा, रात तुमसे दिल खोलकर बातें होंगी । उन लोगों को कह दिया है—घर पर एक जरूरी काम छूटा जा रहा था, अभी-अभी याद आया, उसे सम्पन्न कर तुरत आऊँगा, आप लोग चलिये । वे चले गये हैं । अब तुमसे पूरी बातें करके, और तुमसे आज्ञा लेकर ही जाऊँगा । यों ही कितनी ही बातें कहकर, घर से बाहर गये ।

और, उस रात में !—मानों, उन्होंने अपना कलेजा निकाल कर उसके सामने रख दिया—हाँ, एक वर्ष की ही बात थी । किन्तु,

आज स्पष्ट है कि चाहे जिसकी कमी से हो, गलती से हो, तपस्या का फल नहीं मिला। अब क्या यह उचित है कि एक बार जिस काम में हाथ डाल दिया गया, उसे सम्पन्न किये बगैर पीछे पैर दिया जाय? घर की हालत खराब होती जा रही है, वे खुद भी देख रहे हैं। क्या उन्हें आँखें नहीं, ज्ञान नहीं? किन्तु, देश में आज उन्हीं का घर तो इस अबतर हालत में नहीं। सारा देश ही ऊजड़ गाँव हो रहा है। अगर उसमें एक घर सम्पन्न ही हुआ तो क्या? अतः एक घर को सम्पन्न करने की अपेक्षा, इस समूचे ऊजड़ गाँव को ही फिर से बसाने की क्यों न चेष्टा की जाय? गाँव बसेगा, तो यह घर भी आप-आप बस जायगा। घरवालों को तो इतना ज्ञान नहीं, उन्हें तो अपनी ही हालत सूझती है, उन्हें समझाया जाय, तो कैसे? किन्तु, उसे तो समझना ही चाहिये, वह सिर्फ सहचरी ही नहीं है, सहधर्मिणी है, अर्धांगिनी है! उन्हें इस बात से आज प्रसन्नता हुई है कि वह चीजों को समझने की चेष्टा कर रही है, वे अपने को धन्य समझ रहे हैं कि ऐसी पत्नी मिली। किन्तु, जो दिन आनेवाले हैं, वे शायद और भी अधिक परीक्षा के हों। अतः, उसे पूरी तैयारी करनी चाहिये। अपने जीवन, अपनी भावना, अपनी बुद्धि सबको नये साँचे में ढालने की कोशिश करनी चाहिये—आदि, आदि।

वे कहे जा रहे थे, वह सुनती जा रही थी। वह क्या बोलती भला? यों बहुत देर तक दीन-दुनिया की बातें करते हुए, फिर उन्होंने विनोद की बातें छेड़ीं,—अपने पूर्व-परिचित स्वभाव के

अनुसार—कौन कह सकता था कि कुछ मिनट पहले इसी मुँह से ज्ञान की वे अनमोल मुक्तायें झड़ रही थीं—अब तो यहाँ सिर्फ फूल ही फूल बरस रहा था ! फूल—रंग, गंध; देखो, सूँघो; खुश हो, मस्त हो। उसी मस्ती में न-जाने कब उसकी आँखें लग गईं।

× × ×

और, सचमुच उसकी आँखें लग गई थीं। दूसरे स्टेशन पर फिर एक बारात जब चढ़ने का उपक्रम करने लगी, उस कमरे में होहल्ला शुरू हुआ। उसने आँखें खोलीं। भीड़ देख बच्ची को सम्हाला। उस सोई हुई बच्ची को लेकर एक कोने में सिमट कर बैठ गई। गाड़ी चली, दौड़ी, भागी। वह फिर अपनी पुरानी तस्वीरों की दुनिया में जा पहुँची।

१२

एक राष्ट्रीय विद्यालय खोला गया था, उसके वे प्रधानाध्यापक थे। इस अध्यापन से पैसे तो कुछ इतने मिलते नहीं थे कि घर को सम्हाला जा सके। हाँ, घरवालों को, हित-कुटुम्ब को और उसको भी यह सन्तोष था कि आखिर उनकी जिन्दगी में स्थिरता तो आई। विद्या है, योग्यता है, तो कभी-न-कभी उच्च-स्थान प्राप्त करेंगे ही। अभी नहीं सही। अध्यापक होने के बाद, उन्होंने घर के काम-काज की ओर भी कुछ ध्यान देना शुरू किया। छुट्टियों में आते, तो चाचाजी के बोझ को हल्का करने की कोशिश करते। कई पुराने क़र्ज़ ऐसे थे, जो 'सइन' घाव की तरह, न-जाने कब से, बहते आ रहे थे। उनसे पीव नहीं निकलता था, जीवनी शक्ति बही जा रही थी। ऐसे कर्ज़ों को उन्होंने हाथ में लिया। घर के कुछ अनावश्यक खर्चों को कम कर, उपज की वृद्धि की ओर ध्यान देकर, को-अपरेटिव बैंक से कुछ उधार लेकर उन्होंने उन कर्ज़ों को सधा दिया। इस ऋण-मुक्ति से घर में थोड़ी पायदारी आई। लोगों की आशायें फिर पत्ते और कोपलें लेने लगीं।

और, अरे, वह कैसे कहे, कैसे बताये, कि उसके यौवन-तरु में भी अचानक कोंपल फूटी, मंजरी निकली, बौर लगे और

हाँ, टिकोले के भी लक्षण स्पष्ट होने लगे! ओहो, वह गर्भवती हो चली है!

गर्भ—मातृत्व का पावन प्रतीक, प्रेम का विजय-वैजयन्त! जब नारी भोग की दुनिया से हटकर साधना की स्वभूमि में पहुँच जाती है; जब 'काम' 'धर्म' में परिणत हो जाता है, मोह कर्त्तव्य में। जब आँखों का रस छाती में घर करता है, जब होठों की ललाई दूध की उज्ज्वल धारा के रूप में फूट पड़ती है। जब यौवन उन्माद के आवर्त्त से निकल कर मर्यादा की सीमा में बँध जाता है। जब हाथ स्थिर हो जाते हैं, पैर भारी पड़ जाते हैं। जब हवा में तैरनेवाली नारी जमीन के लिए भी बोझीली बन जाती है, जब आसमान में स्वच्छन्द विचरण करने की भावना घर की चहारदिवारी को भी बड़ा घेरा मानने लगती है। संक्षेप में—जब 'कामिनी' 'माता' बन जाती है—वन्दनीय, अर्चनीय, नमस्य, प्रणम्य।

वह गर्भवती है—इस कल्पना ने उसमें एक साथ ही कितने ताज्जुब, कितनी खुशी और कितनी जिम्मेवारी के भाव भर दिये। वह गर्भवती है—अब उसके एक शरीर में दो प्राण बस रहे हैं! कितना आश्चर्यजनक! और यह जो दूसरा प्राण है, वह कौन है? क्या वह उनकी प्रतिमूर्त्ति नहीं है; जिस मूर्त्ति को वह इतने बरसों से—सुख में, दुख में मिलन में, बिछोह में—अपनी आँखों में बसाये हुए थी, वही मूर्त्ति अब प्रत्यक्ष उसकी आँखों के सामने,

मूर्त्तरूप में, चलेगी, फिरेगी। उसके आनन्द का क्या कहना? किन्तु, उस मूर्त्ति के पिंड को नौ महीने तक अपने गर्भ में लिये रहना, अपने प्राण-रस से उसका प्रतिपालन करना, कोई ऐसी हलचल न करना कि उस नन्हें-से मांस-पिंड को ज़रा सी सदमा पहुँचे और जब वह संसार का प्रकाश देखे, उसे मातृत्व की उन शत-सहस्र परिचर्याओं से पालना, पोसना, बढ़ाना, उफ़—वह किस तरह इन जिम्मेवारियों को निभा सकेगी, भला?

वह विद्यालय में थे। वह सोचने लगी, जब वे आवेंगे, किस तरह यह सुसंवाद उन्हें वह सुनायेगी? क्या कहेगी, क्या कह कर बतलायेगी? जब वे सुनेंगे, उनके मन में क्या भाव होंगे? जरूर ही आनन्द होगा उन्हें। किन्तु, जिम्मेवारियों के बोझ का उन्हें भी अनुभव होने लगेगा। अच्छा ही तो; अब वे घर की ओर ज्यादा ध्यान देंगे! घरवाले को भुला सकते थे, उसकी उपेक्षा कर सकते थे। किन्तु, 'उसकी' उपेक्षा कैसे करेंगे, जो उन्हीं की सृष्टि है, उन्हीं की रचना है? किन्तु, यह उपेक्षा का प्रश्न ही कहाँ उठता है? आज तक उन्होंने क्या कभी किसी की उपेक्षा की है? हाँ, कर्तव्य-बंधन था। जहाँ दो कर्त्तव्य परस्पर टकराते थे, किसी एक ही का पालन तो कर सकते थे वे? उन्होंने यही किया। हाँ, यह बात जरूर है कि एक अबोध शिशु के साथ जो उनका कर्त्तव्य होगा, वह ज्यादा नाज़ुक होगा, अतः, दो कर्त्तव्यों के चुनाव में, इसकी ओर ही उन्हें पहले ध्यान देना होगा। दो कर्त्तव्यों का चुनाव!—तुरत उसका ध्यान अपनी ओर गया। अब

उसके साथ भी तो यही सवाल होगा ! वह किसको तरजीह देगी—उन्हें, या इस आगन्तुक को ? उसने सुन रखा था, बाल-बच्चे वाली स्त्रियाँ पति के प्रति कुछ उदासीन हो जाती हैं। वे बच्चों में इतना तल्लीन हो जाती हैं कि पति को अपना पूरा प्रेम दे नहीं पातीं। क्या उसपर भी यह बात लागू होगी ? नहीं, हर्गिज नहीं। वे बेवकूफ स्त्रियाँ होती हैं, जो इस तरह करती हैं। जिसका प्रेम सिर्फ हृदय की चीज न रहकर मूर्त्तरूप में सामने नाचे, खेले, हँसे, तालियाँ दे, ता-थेई करे—उनके प्रति उपेक्षा या उदासीनता कहाँ से आयगी ? वहाँ तो प्रेम बढ़ता ही जायगा—उसमें चार चाँद लग जायँगे !

अभी छुट्टियों में, उनके आने में देर थी। इधर, उसका कुतूहल बढ़ता ही जाता था। एक महीना तो उसने जैसे-तैसे काटा, किन्तु, दूसरा महीना आते ही, इस कुतूहल, उत्सुकता को उनसे छिपाये रखना उसके लिए असम्भव हो गया। आखिर, एक दिन एक चिट्ठी उसने उनके पास भेज ही दी—क्या किसी एतवार को, सिर्फ एक दिन के लिए, नहीं आ सकते ? एक जरूरी काम है। और, वह अगले एतवार को आ पहुँचे और आते ही पूछ बैठे—क्या है रानी ? क्यों बुलाया ? वह बोलने ही को थी कि फिर कहने लगे,—मैं कहूँ, क्यों बुलाया है ? वाह री खुशखबरी—अपने को जब्त नहीं कर सकी ? तो, बधाई लो, खुश रहो—कहते-कहते उन्होंने उसे आलिंगन में आबद्ध कर

लिया है ! मैंने सामुद्रिक पढ़ा है,' रानी—किस तरह विना कहे ही सब बातें जान लीं ?

उसे सचमुच आश्चर्य हो रहा था, उन्होंने यह जाना कैसे ? वे भी रहस्य को रहस्यमय बनाये जा रहे थे ? किन्तु, पीछे, उसकी समझ में आया, यह चीज़ कैसे गुप्त रह सकती थी भला ? घर की औरतों से बच्चों के कान में बात गई और उनकी ज़बान जहाँ जिसे न कह दे ? ननदें तो जैसे बाट जोह रही थीं। भैया आये और उन की कानों में बात पड़ी— मिठाई, पूड़ी, और साड़ी की माँग के साथ।

इस शुभ संवाद ने उन्हें कितना हर्षित, पुलकित, आनन्दित किया। हर महीने वे जरूर घर आने लगे—आखिरी दिनों में तो हर रविवार को। जब आते, उसके शरीर का पूरा समाचार पूछते— खोद-खोदकर। जहाँ कुछ गड़बड़ी मालूम होती, तुरंत उपचार में लग जाते। उन दिनों उसकी तबीयत भी अजीब हो रही थी। अवसाद का तो मानों उसके जीवन पर एकच्छत्र आधिपत्य हो गया था। जब खड़ी होती, बैठने की इच्छा होती, जब बैठी होती, तो लेटने की। नई-नई चीज़ों के खाने-पीने की लिप्सा तो होती, किन्तु, जब वे चीज़ें सामने आतीं, उकवाई आने लगती। जो वस्तुएँ उसे बहुत प्रिय थीं, अब उनकी ओर आँख उठाने की इच्छा नहीं होती। चेहरे का रंग उड़ा जा रहा, होठों पर पपड़ियाँ पर रहीं। आखिरी दिनों में तो हाथ-पाँव की क्या बात, उसकी पलकों पर भी सूजन-सी आ गई थी। वे

घर पर होते, तो ज्यादातर उसके निकट होते । हँसने-हँसाने की कोशिशें करते, बहलाने-टहलाने की चेष्टायें करते ।

संयोग, जिस दिन प्रथम-प्रथम उसने इस पुत्ररत्न का प्रसव कर अपने को अति सौभाग्य-शालिनी सिद्ध किया, उस दिन वे घर पर नहीं थे । यह घटित भी हुआ, अचानक और अप्रयास । थोड़ी रात बीती थी । सवेरे कुछ खाकर —यों ही दो-चार कौर— वह आँख मूँदे पलंग पर पड़ी थी कि उसके पेड़ू में कुछ दर्द-सा मालूम हुआ । दर्द टीस में बदला । वह उठकर बैठी । बैठा न गया । पलंग के नीचे पैर खिसका कर वह खड़ा होना चाहती थी, कि उसे मूर्च्छा-सी मालूम हुई । पलंग की पाटी पकड़ कर वह नीचे बैठ गई । एक जोर का वेग—उसके मुँह से चीख । उसके बाद—क्या हुआ, उसे पता नहीं । थोड़ी देर में जब उसे होश हुआ, घर में आनन्द-बधैया बज रहा था और उस कोलाहल में एक मीठी-मीठी केहाँ-केहाँ की आवाज आ रही थी ! वह आवाज, और जैसे उसके समूचे शरीर में जो भी जीवनी शक्ति थी, वह एकाएक उमड़ कर उसकी छाती में आ गई और, थोड़ी ही देर में, उज्ज्वल दुग्ध-धारा के रूप में प्रवाहित होने लगी ।

'बरही' का दिन—स्नानादि करा कर, पीली साड़ी पहना कर, उसे भोर की मीठी धूप में आँगन में बिठा दिया गया था । उस की आँखों में मोटी काजल की रेखा कर दी गई थी; उसकी मांग में सिंदूर की फैली-फैली लकीर थी । उसने आईने में अपने चेहरे को देखा, खुद नहीं पहचानी जाती थी । आँखें धँस गईं—

गालों का रंग क्या हुआ ? जब समूचे शरीर में जर्दी-ही-जर्दी हो, तो पीले रंग की साड़ी से बढ़कर पहनावा क्या हो सकता था? लेकिन, बस जर्दी के भीतर से जो आभा फूट रही ! इन धँसी आँखों में जो उत्फुल्लता दीख रही है ! वैसे क्या कभी देखी गई थी ? जरूर, उसके शरीर में खून की कमी हो गई है। किन्तु, उसकी गोद में जो रक्त का एक सजीव पिंड है, उसने तो मानों उसके सम्पूर्ण जीवन को लाल बना रखा है। ऊपर जर्दी है, भीतर लालिमा खेल रही है। उसके बचे-खुचे खून में नई रवानी है। उसके हृदय-सागर में नई-नई तरंगें अठखेलियाँ कर रही हैं। उसकी आँखें, उसका चेहरा, उसका शरीर, उसका सम्पूर्ण जीवन—आज हँस रहे हैं, विहँस रहे हैं ! उसी असीम हँसी के बीच वे आँगन में पहुँचे। वह शर्माई, घूँघट नीचे खींच ली, आँचल अच्छी तरह सम्हाला। उन्हें देखते ही ननदें किलक पड़ीं, देवर उछल पड़े। 'भैया इनाम लूँगी, भैया मिठाई दो'—का शोर मच गया। एक ननद ने बच्चे को उसकी गोद से ले लिया और बोली—पहले मुँह-देखाई—तब देखने दूँगी। वे भौंचक थे—आनन्द से या आश्चर्य से ? अपनी ही एक जीवित-जागरित प्रतिमूर्त्ति सामने देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा !

उसकी गोद का लाल बढ़ने लगा। उनकी ममता भी बढ़ने लगी—कम से कम उसे तो ऐसा ही अनुभव होता है। जब आते, बच्चे के लिए कुछ-न-कुछ लाते ही। बच्चे के साथ उसकी माँ को कभी नहीं भूलते। किसने कहा कि सन्तान होने के बाद

दम्पती का प्रेम-बन्धन ढीला पड़ता है ? सन्तान तो एक मुहर है, जो प्रेम की बाज़ाबगी की ही नहीं, उसके अटूट, अचल और अकाट्य होने की भी सूचना देती है। दम्पती के प्रेम-वृत्त का सन्तान केन्द्र-बिन्दु है। सन्तान धुरी है, जिसपर स्त्री-पुरुष-रूपी दोनों पहिये चक्कर काटते हैं और इसी चक्कर के साथ-साथ जीवन-रथ को भी कर्तव्य-पथ पर बढ़ाये चलते हैं। जब तक सन्तानरूपी धुरी में न नंधे हों, ये पहिये कब, कहाँ ढुलक,गुड़क जायँगे, कोई ठिकाना नहीं ?

उसने अनुभव किया, सन्तान ने उन्हें और भी उसके निकट कर दिया है। दोनों के जीवन में तारतम्य ला दिया है। आज भी वह देखती है, यह सन्तानों की ममता ही है कि उनका विद्रोही और वैरागी हृदय घर से सम्बन्ध जोड़े हुए है। सन्तान होते ही, जब यशोधरा प्रसूतिगृह में ही थी, बुद्ध घर छोड़कर चल बसे। नहीं तो, शक है कि राहुल के दूध-भरे मुँह की सोंधी गन्ध सूंघने के बाद वे जा पाते। यह सम्भव भी होता, तो जिस समय राहुल बिना दाँत के मुँह से 'बा' कहकर उन्हें पुकार लेता, उसके बाद तो उनका जाना निस्सन्देह ही असम्भव पड़ता !

ज्यों-ज्यों बच्चे के अंग का विकास होने लगा, उसे लेकर कितनी रात क्या-क्या न बातें हुईं। कभी उसके एक-एक अंग का विश्लेषण होता—रानी, रंग तो इसपर मेरा पड़ा है, लेकिन, देखती हो, रंग के भीतर बिल्कुल तुम-ही-तुम हो। ये आँखें—अरी, इसने तुम्हारी आँखों का किंचित् भूरापन तक ले लिया है ! और

यह नाक तो मेरी है नहीं। हाँ, होठ कुछ मेरे जरूर हैं, लेकिन इनकी ललाई भी तुम्हारी ही है। यों ही इस ललाट को मेरी कह सकती हो, किन्तु ये भवें ? और बाल—बताओ न तुम्हारे हैं कि मेरे। शरीर का गठन मेरा है, तो शौष्ठव तुम्हारा।

लेकिन, माफ कीजिये, मेरे राजा, शरीर में मैं जहाँ भी होऊँ, न होऊँ, इसके भीतर जो आत्मा है, वह तो बिल्कुल आपकी है। शिशुता में भी यह नटखटपन, यह ज़िद यह······उहूँ, उहूँ, ये सब मेरे हो नहीं सकते।

तो मैं नटखट हूँ—ज़िद्दी - क्यों ? उन्होंने एक दिन हँस कर पूछा और मैंने तुरत जवाब दिया—इसी से पूछिये ! मुस्कुरा कर उन्होंने एक मीठी चपत दी ! कितनी मीठी ! उसे मिठास में मस्त देख उन्होंने बच्चे को उठाकर चूम लिया !

× × ×

वही बच्चा आज सामने बेंच पर बैठा है। उसने घूमकर उसकी ओर देखा। किस उत्सुकता और उत्कंठा से वह उसके अंग-प्रत्यंग को देखने-परखने लगी। उसकी आँखें, भवें, ललाट, नाक, होंठ—किन-किन में वे हैं ? वह यों घूर-घूर कर देखने लगी, कि उसे मालूम पड़ा, जैसे वे स्वयं वहाँ बैठे हों। हाँ, वे ही तो हैं—कहाँ है फर्क ? बिल्कुल वे ही ! किन्तु, यह तो छलना है।

कैदी की पत्नी :

इस समय तो वे उस पाषाण-पुरी में होंगे—किसी निर्जन, एकान्त कोठरी में बैठे ! क्या उन्हें हमारी याद आती होगी ? नहीं आती होगी, यह वह मान नहीं सकती। तो, वह याद क्या उन्हें विकल नहीं बनाये होगी ? लेकिन····· हृदय, उनकी दुनिया में जाकर अपने दुख को दूना नहीं बना ? चल, अपनी दुनिया देख—

धुधली दर्दीली तस्वीरों की दुनिया—

१३

जब उसने सोचा था, तूफान फट गया, आसमान साफ हो गया, उसमें वह आशा की सुनहरी रेखा भी देखने लगी थी, कि यह अकस्मात् क्या हुआ ?—यह अनभ्र वज्रपात !!

वह चौंक पड़ी, चीख पड़ी, गिर पड़ी, बेहोश हुई । होश होने पर भी उसका दिमाग़ साँय-साँय कर रहा था—अरे, यह क्या ? षड्यंत्र, खून, डकैती, बम, रिवाल्वर···· और वे ? वे और ये भयंकर, भयानक, भयावह चीजें ! नहीं, नहीं, ! हो नहीं सकता ? किसी ने यह दिल्लगी की है ! इन चीज़ों से उनका सरोकार ही कहाँ, जो इनमें वे गिरफ्तार किये जायेंगे ? वे और खून ! जो मांस तक नहीं खाते, वे आदमी का खून करेंगे ? जिन्होंने अपना घर लुटा दिया, मिटा दिया, वे दूसरे का घर लूटने जायँगे ? जिनका जीवन एक खुली हुई पोथी है, वह भला षड्यंत्र, साजिश करेंगे ? अपने कोमल हाथ की ओर देखकर जिन्होंने कई बार कहा, रानी, ये सिर्फ क़लम पकड़ने के लिए बनाये गये हैं; उसी हाथ में बम, रिवाल्वर ! नहीं, बिल्कुल झूठ ! झूठ और झूठ !

किन्तु, यह बात सच थी कि इसी अभियोग में वे गिरफ्तार कर लिये गये थे। उसकी अपनी परेशानी तो थी ही, घरवाले

अदहवास हो रहे थे। चाचाजी चादर से मुँह ढककर जो सोये, तो तीन शाम तक बिस्तरे से उठे तक नहीं। घर में खाना-पीना बन्द। एक ऐसी आग जल उठी थी जो घर के हर प्राणी के साथ समूचे घर को ही जलाने पर उतारू थी, फिर चुल्हा जलाने की किसे चिन्ता ! अड़ोस-पड़ोस के हित-कुटुम्ब दौड़े-दौड़े आये। उसके बाबूजी भी कई वर्षों पर पधारे ! भला, वे किस तरह इस जीवन-मरण के निर्णयात्मक अवसर पर अपनी प्यारी बेटी की सुध नहीं लेते ?

वह उनके पैर पकड़ कर फूट-फूट कर रोने लगी। यह पहली बार थी, जब उसने अपनी मर्म-व्यथा को संसार पर प्रगट होने दिया था। बाबूजी को भी धैर्य नहीं रहा—उनकी आँखों से भी आँसू बहे जा रहे। किन्तु, दूसरों में और उनमें थोड़ा अन्तर था। जहाँ सभी धैर्य के साथ होश-हवास खो बैठे थे, वहाँ उन्होंने हार्दिक व्यथा के बावजूद अपने मस्तिष्क का समतुलन ठीक रखा था। उन्होंने चाचाजी को बिस्तरे से उठाया। घर में रसोई का सिलसिला बँधवाया। फिर, सब बातों को दरयाफ्त करने शहर की ओर चले। हमें समझाते गये—होनहार पर किसी का बस नहीं, किन्तु, हमें प्रयत्न तो करना ही चाहिये। मेरा यकीन है, वे निर्दोष हैं, किन्तु, आज के जमाने में जिसपर जो आरोप न हो जाय। उनके ऐसे प्रसिद्ध और तेजस्वी व्यक्ति को फँसाने के लिए लाख चेष्टायें हो सकती हैं। किन्तु, हमें भी चेष्टा करनी चाहिये, कि उनकी निर्दोषिता प्रमाणित कर सकें। अब सिर

पीटने की जगह हमें थोड़ा हाथ-पैर चलाना होगा। मैं देखता हूँ, असल बात क्या है ?

असल बात तो तह में रह जाती है, नक़ल का बोलबाला होता है। दो वर्षों तक मुकदमा चलता रहा। अजीब सनीसनीखेज चीजें सामने आईं। जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, वे ही बातें सत्य की तरह रखी गईं। उस 'असत्य' सत्य को असत्य सिद्ध करना कोई आसान काम नहीं था। बाबूजी प्राणपण से लगे हुए थे। रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा था। चाचाजी क़र्ज़ पर क़र्ज़ किये जाते। घर की हालत खराब हुई जाती। दो साल तक खेती-बारी की तरफ भी किसी का ध्यान न गया। उपज कम और खर्च ज्यादा अत्यन्त कहिये। पहले से खोंखला घर और भी खोंखला हुआ जाता।

एक दिन बाबूजी आये, कुछ रुपये की तुरत जरूरत थी। चाचाजी ने कई जगह दौड़-धूप की। रुपये मिलते नहीं थे। बाबूजी ने भी अपना हाथ खाली कर लिया था। क्या किया जाय - इसी चिन्ता में वे थे। उसने उन्हें बुलाया और जब वे आये, उनके हाथ में एक पोटली रख दी। यह क्या? अरे, तुम्हारे गहने हैं! नहीं दुलारी, नहीं। मुझसे यह नहीं होगा। मैं घर जाता हूँ, कोई उपाय करूँगा। क़र्ज़ लूँगा। तुम्हारे गहने?—मैं बेचूँ? तू पागल हो गई है क्या?

बाबूजी—वह बोली—मैं कोई भोली बच्ची नहीं। बहुत देखा, बहुत सुना। सब समझती हूँ। ये गहने नहीं हैं, मेरे पाप

हैं। मुझे यक़ीन हो गया है, मेरे पाप ही उन्हें इन संकटों में डाल रहा है। वे साधु हैं, पुण्यात्मा हैं। फिर भी वे जो इन झंझटों में फँस जाते हैं, मेरे चलते, मेरे पापों को चलते। मैं अपने पापों को धोऊँगी, अपने को जलाऊँगी, शुद्ध करूँगी! जब तक मैं शुद्ध नहीं होती, उनका उद्धार नहीं होगा। मेरे पाप का बोझ उनकी धर्म की नैया को डुबाने पर तुली है। यह नहीं होने दूँगी। ये गहने तो ऊपरी पाप हैं, मन में जो लालसायें घुसी, छुपी हैं, उन्हें भी दूर करना होगा। आप पिता हैं, मेरी मदद कीजिये। ले जाइये इन्हें, इन्हें बेचकर उनके काम में लगा दीजिये। अगर आप न भी लीजियेगा, तो ये गहने मैं रखूँगी नहीं! हाँ, यह मेरा निर्णय है। आप इस बाहरी पाप से मुझे मुक्त कीजिये, जिसमें भीतरी प्रायश्चित्त के लिए मैं अपने को तैयार करूँ। वह यों ही बोलती जाती थी, और उसने देखा, उसके बाबूजी की आँखों से आँसू बहे जा रहे थे। उन्होंने अन्ततः पोटली उठा ली। जब वे चलने लगे, उसने कहा—देखिये, चाचाजी से यह मत कहियेगा!

उसके बाद उसने अपने को किन तपस्याओं में जलाना शुरू किया! नहीं, नहीं, सुकर्म को जिह्वा पर लाना नहीं चाहिये, उसका माहात्म्य समाप्त हो जाता है!

इन तपस्याओं के बीच उसके मन में एक लालसा जगी। वह एक बार उनके दर्शन क्यों नहीं कर आती? दर्शन करके अपने पापों को कम करेगी और साथ ही देखेगी कि दुनिया

जिसे षड्यंत्र, कत्ल और लूट कहती है, उनके चेहरे पर वे कहाँ छिपे हैं, किधर हैं ?

वह भी एक दिन था ! गोद में बच्चे को लिये वह जेल में पहुँची । जेल में ही उनका मुकदमा चल रहा था । जज से हुक्म लेकर उसके बाबूजी उसे जेल के उस कमरे में ले गये । जज अपने आसन पर बैठा था; सामने पेशकार कागज उलट-पुलट रहा था । दोनों तरफ के वकील पहुँच चुके थे ! किन्तु वे नहीं थे, जिनके लिए यह सब आयोजन था ! थोड़ी देर में मधुर संगीत की एक स्वर-लहरी उस कमरे में प्रवेश करने लगी, संगीत के साथ कुछ झन, झन, खन, खन भी । जज चौंका । पेशकार चौकन्ना हुआ । वकीलों ने दरवाजे से बाहर देखना शुरू किया और थोड़ी ही देर में बारह-तेरह नौजवान हाथ-पैर में बेड़ी-कड़ी झनझनाते, गाते, कमरे में दाखिल हुए !

और, वे वह हैं !—वह खड़ी थी, बरबस उसके पैर बढ़े और उनके चरणों में वह गिरना ही चाहती थी कि बाबूजी ने बढ़कर उसे सजग किया ! यह क्या कर रही हो, यह कचहरी है ! वह खड़ी हो गई । आँखों से अश्रुधारा फूट निकली । गोद का बच्चा उसकी यह दशा देख, चीख़ पड़ा । वह चट बैठ गई और उसे आँचल के नीचे करके उसके मुँह में स्तन दे दिया । बच्चा चुप हो गया ! किन्तु, उसकी पापिनी आँखें ! क्या वे ठीक से देखने भी नहीं देंगी ! आह रे उनका चेहरा !—दाढ़ी-मूँछ और सिर के बाल बढ़ गये हैं, काफी लम्बे—किन्तु उन काले

बालों के बीच उनका शान्त सौम्य चेहरा और कितना उद्दीप्त हो चला है! उसने पाया, उनके चेहरे का प्रकाश-वृत्त और भी बड़ा हो गया है। उसकी ओर देखकर उनके होंठों पर एक स्मित-रेखा देखी गई, किन्तु, उनकी आँखें? वहाँ कुछ दूसरी ही बात उसने देखी, पढ़ी। और, उनके अगल-बगल में ये जो नौजवान हैं—उनमें से कई को तो वह और कितनी ही बार देख चुकी है, वे उनके साथ उसके घर पर गये थे। उसने उन लोगों को खिलाया था, कई ने तो उससे दिल्लगियाँ भी की थीं। वे सब कितने मस्त हैं। गप कर रहे, चिकोटियाँ काट रहे, मुस्कुरा रहे, हँस रहे। क्या ये ही लोग खूनी हैं? क्या इन्होंने ही डकैतियाँ की हैं? साजिश करनेवालों के चेहरे क्या ऐसे ही होते हैं? बम, रिवाल्वर से खेलनेवाले क्या इसी तरह खेलते हैं? नहीं, नहीं, सारा इल्ज़ाम ग़लत—सारी बात झूठ?

टिफिन के वक्त जज से हुक्म लेकर उसने उनसे बातें कीं। वे उसके निकट आये। बाबूजी हट गये थे। आते ही उन्होंने बच्चे की ओर हाथ बढ़ाया। किन्तु, जब तक बच्चा उनके हाथों में जाय, कि उनके साथियों में से एक लड़का—हाँ, वह लड़का ही था—लपका और बच्चे को छीनकर ले गया। भाई साहब, आप भौजी से बातें कीजिये, हम बच्चे से खेलते हैं - एक ने मुस्कुरा कर कहा। सब हँस पड़े। बच्चे को हाथोंहाथ लेकर वे खेलने-खेलाने लगे और वह उनके सामने चुपचाप खड़ी है। क्या बोले, क्या कहे? उन्होंने ही निस्तब्धता भंग की—

क्यों, घबरा गई हो ? ठीक, घबराने की बात ही है। सोचती होओगी, कैसा मैंने धोखा दिया। सच, धोखा तुम्हें शुरू से ही हुआ ! किन्तु, रानी, घबराने से क्या कुछ बन पड़ेगा ?—बिगड़ेगा ही। परस्पर आरोप लगाने से भी कुछ होने-जाने का नहीं। अब, तो चुपचाप देखना है, सहना है, भोगना है। सत्य प्रकाशित हो कर रहता है। किन्तु, सत्य को आच्छादित किया जा सकता है, कुछ देर के लिए ही सही ! अतः, अवश्यम्भावी पर तर्क करना ही फिजूल है। कभी-कभी हमारी परीक्षा के लिए भी ऐसी चीजें आती हैं ? परीक्षा कड़ी भी हो सकती है। हो सकता है, हमारा सामूहिक पाप कुछ व्यक्तियों के निरपराध रक्त से ही धोया जा सके ? दासत्व सबसे बड़ा पाप है, रानी !.......

.....तुम इतनी दुबली हो गई हो ? ठीक तो, दो परस्पर संलग्न आत्मायें यों अचानक अलग कर दी जायँ और बीच में ऐसी दीवाल खड़ी कर दी गई हो, जिसकी ओर-छोर कुछ मालूम नहीं, तो, पीड़ा होना लाजिमी है। और, हृदय की पीड़ा तो खून ही पीता है, मांस ही खाता है। किन्तु, रानी, जब दो आत्मायें तीसरी आत्मा के रूप में अपने को स्वतः परिणत कर लें, तब उनका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि उसके लिए - कम से कम उस तीसरी आत्मा के लिए भी - अपने अस्तित्व को कायम रखने की कोशिश करें। तुम्हारा यह दुबलापन बच्चे के लिए कितना हानिप्रद होता होगा, तुमने सोचा है ? मेरे लिए इतनी चिन्ता और उस अबोध के लिए ?........

कैदी की पत्नी :

······और, तुम लोगों ने यह क्या किया है ? चाचाजी तो पागल हो गये हैं, तुम्हें सोचना चाहिये। यों उजड़े घर को दोनों हाथों से आप-आप उजाड़ना, यह क्या बात ? क्यों इतना खर्च ? किन्तु, तुम इस बारे में सुनोगी नहीं ! अपने गहने तक बेंच दिये ! बाबूजी कह रहे थे, रो रहे थे ! मैं उन्हें क्या समझाता भला ?······

······सुना, मेरे लिए बड़ी-बड़ी साधनायें कर रही हो—व्रत, उपबास, मन्नत, क्या-क्या न ? मैं कैसे रोकूँ ! शायद तुम्हारी तपस्या घर को बचा ले ? मेरी तपस्या का फल तो यही है, जो मैं भुगत रहा हूँ, भुगतूँगा ! और यह तपस्या नहीं है रानी, प्रायश्चित्त है। कहोगी, मैंने तो कोई अपराध नहीं किया, फिर प्रायश्चित्त कैसा ? अपना नहीं, अपने पूर्वजों का। और, प्रायश्चित्त जितना कड़ा होगा, पाप उतना जल्द कटेगा, पुण्य उतना शीघ्र उदय होगा। घबराना नहीं, हमारी मुक्ति के दिन निकट आ रहे हैं। क्या तुम नहीं देखती ? मैं तो देख रहा हूँ, उतना ही स्पष्ट, जितना यहाँ तुम खड़ी हो······

वे बोले जा रहे थे। बोलते-बोलते और भी नजदीक आ गये थे। उसके हाथों को अपने हाथ में ले लिया था। वे चिर-परिचित हाथ—मालूम हुआ, वह फिर मँडवे पर बैठी है और उसका हाथ उनके हाथों में है। हाथों के स्पर्श ने ही जैसे उनके हृदय से उसके हृदय का सम्बन्ध जोड़ दिया। कान उनके शब्द पी रहे थे और हृदय उनके हृदय से सन्देशों का आदान-

प्रदान कर रहा था। हृदय की भाषा के बाद जिह्वा का क्या काम ? वह चुपचाप खड़ी थी। वे शायद कुछ और कहते, किन्तु इसी समय टिफिन का वक्त पूरा हुआ। लोग कमरे में आने लगे। उनकी ओर देख, जैसे उनकी आँख बचाते हुए, एक बार उन्होंने उसके चिबुक को पकड़ लिया। और तुरत उसे छोड़ बोल उठे—अच्छा जाओ, मस्त रहना रानी। तब तक उनके साथी बच्चे को उनके नजदीक ले आये थे। बच्चे को हाथों में लिया, एकाध बार चुमकारा और उसके हाथों में देते हुए कहा—अपने लिए नहीं, इस बच्चे के लिए तो तन्दुरुस्ती पर ध्यान देना ! "भाई साहब, भौजी से थोड़ी हमारी बातें भी होने दीजिये—उनके साथियों ने ठहाके के बीच कहा। किन्तु, तब तक जज अपने आसन पर आ चुका था और बाबूजी भी उसके नजदीक आकर चलने का इशारा कर रहे थे। यद्यपि वह अपने को ज़ब्त करना चाहती थी, किन्तु वह आप-से-आप झुक ही पड़ी उनके चरणों की ओर। और उसे लपक कर उठाते हुए, एक ही सेकंड के लिए ही सही, उन्होंने उसे आलिंगन किया ही। वह आकस्मिक आलिंगन—उसका समूचा शरीर कदम्ब-सा फूल उठा !

जब वह घर लौट रही थी !—क्या एक मिनट भी उसके आँसू रुक रहे थे ? इनमें से किसी को फाँसी हो सकती है, किसी को कालापानी ! ये हँसते-खेलते लोग ! इनमें से किसी को, सूत की मोटी डोर से गला कसकर, दम घुँट कर, मार डाला जायगा, किसी को सात समुन्दर पार घुल-घुल कर, तिल-तिल कर मरने

को लाचार किया जायगा ? ये हँसते-खेलते लोग !—क्या इनका परिणाम यही होना था। और, 'वे'—कौन कहे, उनका क्या हो ? फिर भेंट हो या · विधाता · · विधाता · · · · ·

× × ×

उसने आंखे खोल दीं। उसकी आँखों से अनवरत आँसू आ रहे हैं और गाड़ी तेजी से भागी जा रही है। जिस तरह दुःस्वप्न से घबरा कर आदमी, आँखें खोलने पर भी स्वप्न से इस तरह अभिभूत रहता है कि अपनी जाग्रत स्थिति पर भी उसे सन्देह होता है, वह काँपता है, चीखता है, चिल्लाता है; ठीक वही हालत उसकी हो रही थी ! उसका हृदय इतना आन्दोलित था, उसका दिमाग इतना परेशान था, कि उसे भान नहीं होता, वह कहाँ है ? झटपट उसने आंचल से आँसू पोंछे और डब्बे की रोशनी की ओर देखने लगी—ठीक उसी तरह, जिस तरह स्वप्नाभिभूत व्यक्ति रोशनी देखना चाहता है। डब्बे में कुछ नई सूरतें थीं, जो उसकी ओर न-जाने क्यों घूर-घूर कर देख रही थीं। उसका स्वप्न भंग तो हुआ, किन्तु, वह उनकी इस बेहूदगी को बर्दाश्त नहीं कर सकी। फिर मुँह फेर कर डब्बे से बाहर देखने लगी और उधर देखना था कि · · · · ·

१४

उसके सिंदूर का भाग्य—वे छूट गये, बेदाग छूट गये ! हाँ, ऊपर की अदालत तक जाते-जाते इस परीक्षा में ढाई वर्ष से ऊपर लग गये।

वे लौटे, उसका सुहाग लौटा। और, अब उसका एकमात्र सहारा तो यह सुहाग ही था न ?

चाचाजी ने कुछ ऐसा शोक धर लिया कि वे चल बसे। उनका चलना कि घर का रहा-सहा शीराजा भी बिखर गया। घर की यह हालत देखकर उन्हें सदमा नहीं हुआ, यह नहीं। किन्तु, एक दिन चर्चा चलने पर बोले—

रानी, हम वैसे माँझी हैं, जिसने अपनी नाव जला डाली हो। नाव जल गई, सामने समुद्र लहरा रहा है और उसकी हर लहर हमें निमंत्रण ही नहीं दे रही, बल्कि हमारा आह्वान कर रही ! हम निमंत्रण की उपेक्षा कर सकते थे, किन्तु आह्वान की उपेक्षा तो पौरुष का अपमान होगा। हम उसमें धसेंगे, उसे पार करेंगे। यह शरीर ही नाव बनेगा, भुजायें ही पतवार होंगी। नाव पर हम मन-चाहा सामान लाद सकते थे, अब एक सेर ज्यादा बोझ-भी हमें लहरों के नीचे ला देगा। कभी साधनहीनता बुरी होती है, कभी भली। कभी सम्पन्नता सुख-शान्ति का कारण होती है, कभी जीवन का काल। हम साधनहीन, सम्पत्तिहीन

हो रहे हैं, होते जायँगे; किन्तु हमने जो शपथ ली है, उसे देखते हुए, इस स्थिति पर सन्तोष ही करना अच्छा। किन्तु, मैं मानता हूँ, इस सन्तोष की स्थिति में मस्तिष्क को ले आना आसान नहीं। पुराने सुख हृदय में काँटे बनकर गड़ेंगे, पुरानी मौज दिल को बेचैन बनायगी। ये ही परीक्षा के दिन होंगे--मेरे लिए, तुम्हारे लिए, घरवालों के लिए। मैं उत्तीर्ण हो सकता हूँ, तुम जरूर उत्तीर्ण होगी, किन्तु, ये भोले भाले लोग! अतः, अब एक ही करना है, जहाँ तक बन पड़े, साधना की धूनी रमाई जाय और इन्हें सुख से रखने की कोशिश की जाय। मुझे उम्मीद है, तुम मेरे इस असाध्य साधन में सहायक बनोगी।

वह सहायक बनती, बनने की उसने कोशिशें की हैं—किन्तु, न-जाने क्यों, ज्यों-ज्यों दिन होते जाते हैं, वियोग की कल्पना भी उसे बेतरह अखरने लगी है। आप घर रहिये, मैं सब सह लूँगी, कर लूँगी,—एक दिन उसने कहा भी उनसे। वे सुनकर मुस्कुरा पड़े—रानी, तब तुम फिर मुझसे घर बसाना चाहती हो! मुझे मेरे कर्तव्य-पथ से मत हटाओ, मेरी रानी! स्थानभ्रष्ट व्यक्ति कहीं का नहीं रहता है—न घर का, न घाट का! मनुष्यता को श्वान-वृत्ति में पटक देना, रानी, कम-से-कम मेरी अर्द्धांगिनी के लिए शोभनीय नहीं!

उसने देखा, "मेरी अर्द्धांगिनी" कहते हुए, उनकी आँखें अभिमान से चमक पड़ी थीं और उस चमक ने उसकी कमजोरी को, कुछ देर के लिए ही सही, न-जाने कहाँ भगा दिया था!

तरह-तरह के अन्दोलन चलते रहे, सबमें उनका सिर्फ हिस्सा ही नहीं; हाथ होता। और, परिणामस्वरूप बार-बार जेल-यात्रायें करनी पड़तीं। आज जब वह हाथ की उँगलियों पर उनकी जेल-यात्रायें गिनना चाहती है, गिन नहीं पाती।

इधर नोनी लगी दीवालें और घुन लगे खम्भे एक-एक कर गिरने का उपक्रम कर रहे थे। जो कसर थी, भूकम्प ने पूरी कर दी। घर गिर गये, खेती बर्बाद हो गई, बाढ़ और बीमारी ने सब कुछ चौपट कर छोड़ा!

जहाँ पहले इमारतें थीं, वहाँ ऊँचा-सा ढूह बना है। उस ढूह पर कुछ छोटी-छोटी झोपड़ियाँ हैं—बाँस की दीवाल, फूस का छाजन। 'छोटा-सा घर-आँगन।' उस छोटे-से आँगन में एक बड़ा-सा परिवार। ऐसा परिवार जिसे भूत ललचाता है, वर्तमान समझाता है, और भविष्य? उसकी चर्चा ही व्यर्थ।

संक्षेप में जो रानी थी, वह भिखारनी हो गई।

एक बार की बात उसे याद है। वे एक वर्ष के लिए जेल गये थे। यह एक वर्ष उसने कैसे बिताया था? चाचाजी के बाद, 'उनकी' गैरहाजिरी में, वही घर की मालकिन हुई। देवर नाबालिग; घर की स्त्रियों की जैसे मत मारी गई। घर-बाहर उसे ही देखना पड़ता। उस साल फसल बिल्कुल खराब गई। क़र्ज़ वालों के तकाज़े इतने थे कि नये क़र्ज़ की चर्चा ही फिजूल थी। गहने बिक चुके थे। वह क्या करे? सिर्फ एक साड़ी पर उसने एक साल बिता दिया था!

कैदी की पत्नी :

एक साड़ी पर एक साल ?

घर की औरतों और बच्चों के बाद उसके लिए सिर्फ एक ही तो बच गई थी।

जब वे लौटे, एक दिन कोई प्रसंग आया, उसकी जबान से यह चर्चा निकल पड़ी। सुनकर बहुत ही विषण्ण हुए। उसे अफसोस हुआ, कहाँ से उसने कह दिया। उसने देखा, कई दिनों तक रह-रह कर उनका चेहरा उदास हो जाता। बातें करते होते, हँसते होते, हँसाते होते, बच्चों को खेलाते होते, उनसे खेलते होते, अचानक, जैसे उनके चेहरे पर स्याही दौड़ जाती। हँसता हुआ फूल मुरझा उठता! उसने कई बार पूछा, ऐसा क्यों? जब वह पूछती, वे मुस्कुराने की चेष्टा तो जरूर करते, किन्तु, यह कृत्रिम हँसी उनके चेहरे की स्याही को और भी सघन कर देती।

लेकिन, क्या इसने उन्हें उनके मार्ग से विचलित किया!

याद है, कई बार कुछ बड़े नेता उसके घर पर आये। उनसे बार-बार आग्रह किया—असेम्बली के लिए खड़े होइये, डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में चलिये, चेयरमैनी कबूल कीजिये, किन्तु, उन्होंने किस उपेक्षा और घृणा से उनकी 'देन' को ठुकरा दिया! सुनती हो रानी, सत्ययुग में तपोभ्रष्ट करने को राक्षस या अप्सरायें आती थीं। कलियुग की सब बातें विचित्र हैं न? इस जमाने में हमारे बुजुर्ग ही हमें दलदल में घसीटना चाहते हैं! क्या तमाशा है, कुत्ते लोहे की जंजीर को अपनी जीभ से चाटते-

चाटते अपनी जीभ से निकले ख़ून में ही स्वाद अनुभव कर ज़ोरों से जीभ चलाये जा रहे हैं! दुनिया में आत्मवंचना से बढ़कर कोई बड़ा अभिशाप नहीं है, रानी!

"और इस युग में ज्यादा तो ऐसे ही लोगों की संख्या है न ?"—उसके मुँह से निकला! शायद उसमें थोड़ी कमजोरी आ गई थी!

"इसीलिए तो, जो थोड़े-से लोग इन्हें बुरा समझते हैं, उन्हें ज्यादा से ज्यादा आत्मत्याग दिखाना चाहिये। जहाँ तर्क और सीख काम नहीं करते, वहाँ उदाहरण ही एकमात्र उपाय बच जाते हैं रानी! जब सब चिराग़ गुल हो रहे हों, तो, जिनके पास बची-खुची तेल-बाती है, उन्हें कंजूसी नहीं करना चाहिये। प्रकाश होने दो, प्रकाश! रानी—मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो नच धूमायितं चिरम्!"

उसने देखा था, उनकी दोनों आँखें यह कहते-कहते दो जीवित मशाल बन रही थीं—निर्धूम, उज्ज्वल, प्रोज्ज्वल!

किन्तु उन उज्ज्वल आँखों में सिर्फ ज्वाला ही नहीं है—वहाँ करुणा की निर्झरिणी अनवरत अठखेलियाँ करती है, यह भी वह जानती है। शायद करुणा की अधिकता ही ज्वाला में परिणत हो गई है। तरल पानी ज्यादा शीत पाकर कठोर बर्फ बन जाता है; ऐसी सख्त कि उसपर इस्पात की धार भी भुथरी हो जाय। किन्तु, इसका मतलब यह कदापि नहीं कि उसकी तरलता ख़त्म

हो गई। बस, सिर्फ थोड़ी गरमी चाहिये, फिर पानी पानी है—सरल, कोमल, शीतल, सुखद !

उसने उनके जीवन को देखा है, परखा है, और हमेशा यही पाया है। इस परिवार—एक-एक प्राणी—के लिए उन्हें कितनी चिन्ता रहती है। और ये बच्चे! – जिस समय वे इन बच्चों में होते, कौन कह सकता है कि यही वह व्यक्ति है, जो कर्तव्य की पुकार पर इन बच्चों की परवाह किये विना बड़े से बड़ा संकट लेने को तैयार होता है! जब तक बच्चे हँसते, उनके बीच वे यों हँसते कि यह पार पाना मुश्किल कि किसकी हँसी ज्यादा मासूम है—बच्चों की या उनकी! किन्तु, ज्यों ही इन बच्चों की तबीयत जरा भी अलील हुई, कहाँ गई हँसी?—यों सेवा-उपचार में व्यस्त रहते कि शक होता, वह बच्चों की माँ है, या वे?

यही नहीं, अपने शरीर पर फटा कुर्त्ता वे फख्र से रखते – पैवन्द से उन्हें जैसे प्रेम हो गया हो। किन्तु, जब कभी बच्चों के कपड़े फटे देखते, जैसे उनकी छाती फट जाती। और, यदि कभी गाँव के किसी यज्ञ-उत्सव पर, या किसी पर्व-त्योहार पर बच्चे नये कपड़े के लिए जिद करते, तब तो वे कट-से जाते। बच्चों को हँस के बहलाते, किन्तु, उनके हृदय में कौन-सा हाहाकार मच जाता, क्या वह नहीं परखती।

माता के हृदय के लिए जरूरी नहीं कि छाती पर दूध के दो घड़े ही रखे हों।

किन्तु, वह कहाँ बहकी जा रही है ? वह अपनी तस्वीर भूली जा रही है, उसके बदले वह उनकी-ही-उनकी तस्वीर देख रही है !

उसकी तस्वीर — उनकी तस्वीर ! अब वह जिन्दगी के जिस छोर पर पहुँची है, क्या वहाँ कहीं भी दो तस्वीरें नजर आती हैं ? वह अपने को अब कहाँ पा रही है ? चेष्टा करके भी वह अपने को अगर पा सकती ? अब तो वह चारों ओर उन्हें-ही-उन्हें पा रही है। अगर उसका अस्तित्व बचा रहता, तो क्या वह उन संकटों को झेल सकती, नहीं-नहीं, उन संकटों से खेल सकती, जो जिन्दगी की इस ढलती बेला में एक-पर-एक उसपर गिरते रहे हैं ! अब तो वह उस जगह पहुँच गई है, जहाँ दर्द दवा बन जाता है, निदान उपचार में परिणत हो जाता है !

यह उन्हीं की महिमा है। उन्हीं का प्रताप है।

किन्तु, इस एकात्मता ने जहाँ ऐसा वरदान दिया है, वहाँ इसका एक दुखद पहलू भी है।

अब उसने हर दुख को उनकी नजरों से देखना शुरू किया है। इसलिए, अपना दुख भूलकर भी, वह दुखों की दुनिया से अपने को विलग नहीं कर पाती। यह छोटा-सा उदाहरण। आज वह इतना दुखित क्यों है ? क्या सिर्फ अपने दुख से ? नहीं; बार-बार उसका ध्यान जाता है उनकी ओर, जो इस आधी रात की निस्तब्धता में भी, उस एकान्त कोठरी में जगे

हुए बैठे होंगे ! बैठे, सोचते—न जाने, इस घटना को रानी ने कैसे लिया हो ? न मालूम बच्चों ने क्या महसूस किया हो ?

वह छोटी-सी साड़ी वाली बात ! उन्होंने न-जाने हृदय के किस कोने में उसे बंद करके रख छोड़ा था और इस बार जब गिरफ़ारी की चर्चा सुनी, सबसे पहला काम यह किया कि बाजार गये और साड़ियों का एक बंडल ही खरीद कर घर में रख दिया। आपने यह क्या किया ?—उसके पूछने पर उन्होंने सिर्फ इतना मुस्कुराते हुए कहा—एक वर्ष के लिए ये साड़ियाँ शायद काफी होंगी !

× × ×

भौजी, आनेवाले स्टेशन पर उतरना है, सामान दुरुस्त कर लिया जाय—उसके देवर ने कहा। और भी मुसाफिर अपने सामान ठीक कर रहे थे। इसी स्टेशन पर उतरना है—इस बात ने उसे काफी सन्तोष दिया, क्योंकि वह अब तस्वीरों की उस दुनिया में पहुँच चुकी थी, जहाँ बाहरी आकार नहीं होते, टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों के भीतर अस्पष्ट, धुँधली भावनायें होती हैं—आँसुओं में पली, उच्छ्वासों में खेली, जो देखनेवालों के लिए खेलवाड़ होती हैं किन्तु समझनेवालों के लिए मौत ! जिनकी व्याख्या की नहीं जा सकती, जिन पर टीका हो नहीं सकती·······

ब

अब 'ब' स्टेशन से एक घोड़ागाड़ी देहात की ओर चली जा रही है।

वे ही सब-के-सब। बच्ची के हाथ में झुनझुना है, वह बजा रही है, किलक रही है। बच्चा बिस्कुट कुतर-कुतर कर खा रहा है। बड़ा लड़का रास्ते की चीजों की ओर बच्चे का ध्यान बार-बार आकृष्ट करता है। नौजवान समझता है, बच्चों का गार्जियन वही है, क्रमशः सबकी ओर ध्यान देता, सबकी ख्वाहिशें पूरी करता, और सबका जी बहलाता, वह खुद भी इन्हीं में बहला हुआ है।

किन्तु, वह स्त्री? उसके शरीर को घोड़ागाड़ी ढोये ले जा रही है, घर की ओर; किन्तु, उसका मन कहाँ है? हृदय कहाँ है? उसकी आँखों से पूछिये—उन आँखों से जिनकी पलकें सूजी हुई हैं और जिनकी पुतलियाँ इस तरह अचंचल हो रही हैं, जैसे उनमें जान ही नहीं हो। रास्ते के ये पेड़-पौधे, बाहर के ये खेत-खलिहान, ऊपर की यह गाड़ी की छत, बगल के ये बच्चे—क्या उसकी आँखों में इनमें से किसी की भी प्रतिच्छाया है?

जो उसकी आँखों में, हृदय में, मन में, नस-नस में रमे हुए हैं, वे इस समय कहाँ हैं?

भेंट न हुई, न हुई। उन्हें देखे कोई ज्यादा दिन नहीं हुए। यही पाँच-छः महीने तो हुए उन्हें इस बार जेल आये।

कैदी की पत्नी :

भरी जवानी में इससे दुगने, तिगुने, चौगुने दिनों तक नहीं देखकर भी वह धैर्य रख सकी, किन्तु आज उसे क्या हुआ जा रहा है ? लोग कहते हैं, जवानी ढलने पर प्रेम का ज्वार भी भाटे में पहुँच जाता है। तो फिर, उसके हृदय में यह ज्वार-ही-ज्वार क्यों हाहाकार कर रहा है ? समुद्र का ज्वार भी अपनी मर्यादा का ज्ञान रखता है। लेकिन, यहाँ, यह क्या हो रहा है ?

सामने बच्चे हैं, एक तो काफी सयाना है। क्या वह इन बातों को नहीं समझता होगा ? फिर, वह मन-ही-मन क्या कहता होगा ? उसका यह देवर—वह देख नहीं रही, वह उसकी इस खिन्नता से कितना उद्विग्न है। वह भी क्या सोचता होगा - भौजी को यह क्या हो गया है ? और रास्ते के ये चलनेवाले पथिक - जो एक औरत को देखते ही घूरने लगते हैं, क्या कहते होंगे ? नहीं-नहीं—यों, आम-रास्ते पर अपनी मर्यादा लुटाना मुनासिब नहीं।

किन्तु, वह करे तो क्या करे ? तर्क से अपने दिमाग को तो वह कुछ स्थिर कर पाती है, किन्तु, यह कम्बख्त दिल—रह-रह कर जैसे वहाँ एक बिजली चमक जाती है वह काँप उठती है, उसके होंठ हिल जाते हैं, उसकी आंखें बरसने लगती हैं। यह उसका क्या उपचार करे ?

आँसू आँसू, आँसू। ज्वार, ज्वार, ज्वार। भँसा ले जाओ, तुम जहाँ चाहो ! बेशरम तो कर ही डाला, अब रहम की जरूरत क्या !

× × ×

शीतल छाया, घोड़े पसीने-पसीने, सत्तू की दूकान। गाड़ीवान घोड़े को आराम दे रहा है, सत्तू पिला रहा है। गद्दा डालकर गाड़ी के यात्री उसपर बैठे हैं।

नौजवान उस देहाती पान की दूकान पर चला गया है। बड़ा लड़का भी उसके साथ है। बच्ची सो गई है। छोटे बच्चे से वह स्त्री दिल बहला रही है। इतने में वह चिल्ला उठा—पंडुक, पंडुक!

पंडुक, पंडुक। वह उसकी ओर दौड़ा। स्त्री ने देखा—दो पंडुक, वैसे ही जैसे बचपन में उसने देखा था। धूसर पंख, काले बुंदे, गले में नीली-सी रेखा, चमकीली गोल आंखें, सुन्दर लम्बी चोंच—दोनों पंडुक अगल-बगल चुग रहे! बच्चे के पैर की धमक से चौकन्ने हुए, उड़े और डाल पर जा बैठे। जब वे उड़े, उनके चारो पंख इस तरह हवा में हिलकोरें दे रहे थे, मानों, वे एक ही कल के चार पुर्जे हों।

ये पंडुक—और इनका प्रेम। एक साथ जन्मे, एक साथ बढ़े, और एक साथ ही चल देंगे, या तो साथ-साथ या एक दूसरे के वियोग में विसूरते!

और मनुष्य!—

अभिशापित प्राणी! बचपन में वियोग, जवानी में वियोग, बुढ़ापे में वियोग। जीवन में वियोग, मृत्यु में वियोग। भोग के लिए तुम क्या-क्या नहीं किया? किन्तु मिला वियोग, वियोग! सुख की खोज में हमेशा दुख पाया।

(कैदी की पत्नी :

भुजाओं से सन्तोष नहीं हुआ, पंख बनाये। उड़े तो; किन्तु, गिरे ऐसे कि भुजायें भी न रह गईं।

कन्दरा या खोंढ़र से तसल्ली कहाँ, प्रकृति पर विजय करना चाहते थे, प्रकृति के गुलाम बने। जमीन पर स्वर्ग बसाना चाहा, उसे राख बना डाला! बड़े-बड़े महल बनाये। बनाये, लेकिन, वे ही महल तुम्हारे क़ैदखाने हो रहे हैं। तड़पा करो उनमें—कुछ कैदी कहलाते हुए कुछ अपने को स्वतंत्र मानते हुए।

तड़प, तड़प, चीख, चीख! जहाँ देखो, यही।

और पंडुक स्वच्छन्द विचर रहे हैं, मस्त हैं। पंखों के पर, कंकड़ के भोजन, प्रेमी-प्रेमिका का अहर्निश संग।

यों ही वह सोचे जा रही थी कि उसने देखा, उसका छोटा बच्चा पंडुक के पीछे दौड़ा जा रहा है। वे इस डाली से उस डाली पर, इस टीले से उस टीले पर बैठ रहे हैं और वह उसके पीछे ाचता-सा भागा जा रहा है!

वह खड़ी होकर उसे पुकारना चाहती थी। कि—

कि उसके पैर लड़खड़ा गये, समूचा शरीर झनझना उठा, उसने पाया वह गिरने-गिरने को है, झट बैठने का उपक्रम करने लगी।

किन्तु क्या बैठ सकी? गद्दे पर लुढ़क-सी गई। उसका देवर अलग से देख रहा था, वह दौड़ा, बड़ा लड़का दौड़ा। दोनों नजदीक आये – भौजी, क्या हुआ? मैया, क्या हाल?

उसने आँखे खोलीं—"कुछ नहीं—जरा पानी···"

काका और भाई को दौड़ते देख, छोटा बच्चा भी पहुँच चुका था। पसीने से तर उस बच्चे को गोद से सटाते हुए, ~~उसने फिर आँखे बन्द कर लीं।~~